श्रीसमन्तभद्राचार्यविरचित

* युक्त्यनुशासनम् *

[विस्तृत हिन्दी विवेचन सहित]

(पूर्वार्ध)

विवेचक—
पं० मूलचन्दजी शास्त्री
(मालथौन निवासी)
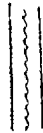
सम्पादक—
क्षुल्लक-शीतल सागर
(आ. महावीरकीर्तिजी के शिष्य)

प्रकाशक—
श्री दिगम्बर जैन पुस्तकालय
सांगानेर (जयपुर-राज०)

सर्वप्रथम १००० | श्री वीर नि० २४९३ वि. सं. २०२४ अक्टूबर १९६७ | मूल्य ७५ पैसे

श्री वीर स्तुति

(युक्त्यनुशासन के प्रथम चार छन्दों का पद्यानुवाद)

महान कीर्ति द्वारा भूपर, आप हुए वर्धमान् प्रभो !
अतः आप ही वर्द्धमान् हो, स्तुतिगोचर भी आप विभो !
स्तुति का विषय बनाता तुमको, अब मैं भी हे वीर प्रभो !
दोष रूप जो पाश बन्ध है, दूर किया है क्योंकि विभो !
यथार्थता का लङ्घन करके, बढ़ा चढ़ा कर गुण गाना ।
भगवन ! स्तुति वही लोक में, ऋषियों ने निश्चय माना ।
भूरि गुणों के सागर जिनवर ! तब गुणांश कहने न समर्थ ।
कैसे कर सकता स्तुति मैं फिर, बोलो जबकि कुछ न समर्थ ॥
फिर भी हुआ हूं भक्ति के वश, निर्लज्ज बन स्तुतिकार मैं ।
शक्ति के अनुरूप वाक्य, कह सकूंगा तबहि मैं ।
सिद्ध होने योग्य है कोई, कार्य उसके यत्न में ।
उत्साह युत हो पुरुष क्यों नहिं, यथाशक्ति स्वसाध्य में ।
शुद्धिरूप जिस शक्ति उदय की, पराकाष्ठा को पाया ।
भगवन् ! उपमा रहित वही है, शान्तिरूप भी तुम माया ।
अतः निःशङ्क कह सकता हूं मैं, 'मोक्षमार्ग के हो नेता' ।
इसीलिये हो महान् आप ही, और अधिक क्या कह सकता ॥

—पद्यानुवादक क्षुल्लक शीतल सागर

आद्य वक्तव्य

लगभग दो हजार पूर्व श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य एक अद्वितीय कोटि के दार्शनिक विद्वान हो चुके हैं। अनेक बड़े बड़े दिग्गज आचार्यों ने आपके विषय में बहुत कुछ लिखा है। आपके विषय की बहुत कुछ जानकारी प्रकाश में आ चुकी है।

प्रस्तुत महाशास्त्र, श्री वीरप्रभु की स्तुति रूप में स्वामीजी द्वारा ही रचा गया है। इसकी श्री विद्यानंदी आचार्य विरचित संस्कृत टीका भी पाई जाती है जो कि प्रकाशित हो चुकी है।

प्रस्तुत विस्तृत हिन्दी विवेचन मालथौन निवासी श्री पंडित मूलचन्द्रजी शास्त्री ने इसी को आधार मानकर लिखा है। पंडितजी ने इसको लिखकर एक महान प्रशंसनीय कार्य किया है। अभी तक इस ग्रन्थ के रहस्य को समझने वाले विरले ही थे। परन्तु पंडितजी द्वारा सरल हिन्दी अनुवाद लिखा जाने से अब इसका रहस्य प्रत्येक स्वाध्यायशील व्यक्ति की समझ में आने लगेगा।

पंडितजी ने स्थान २ पर विषय को खूब स्पष्ट किया है। आपने प्रस्तुत ग्रन्थ के मूल रचयिता द्वारा रचित आप्तमीमांसा (देवागम-स्तोत्र) नामक महा शास्त्र का भी विस्तृत हिन्दी विवेचन लिखा है जो कि लगभग हजार पृष्ठों में प्रकाशित हो सकता है। शुद्ध प्रेस-कापी हमारे पास विद्यमान है। वर्तमान में आप भट्टारक सुरेन्द्र कीर्ति रचित चतुर्विंशति संधान पर विस्तृत हिन्दी टीका लिख रहे हैं जिसका कुछ अंश पंडितजी ने हमें बताया था।

प्रस्तुत टीका पंडितजी ने चौबीस वर्ष पहले श्री अतिशय क्षेत्र महावीर कमेटी की देख रेख में लिखी थी; पर समाज के सौभाग्य से अब पूर्वार्ध रूप में प्रकाश में आ रही है। यदि समाज की चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग साहित्य प्रचार की ओर होने लगा तो उत्तरार्ध भी शीघ्रातिशीघ्र प्रकाश में आ जायगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के हस्तलिखित पन्ने, पांच वर्ष पहले लाडनूं चातुर्मास में ब्र० पं० श्रीलालजी काव्यतीर्थ द्वारा प्राप्त हुए थे। उसी समय हमने एक प्रेस कापी तैयार करली और यह भावना रही कि यह ग्रन्थ प्रकाश में आवे। समाज के सौभाग्य से वह भावना अब कुछ पूरी हुई है। और शेष भी पूरी होगी ही।

श्री वीर प्रेस के मालिक श्री भंवरलालजी न्यायतीर्थ ने इसके प्रकाशन व प्रूफ संशोधनादि मे काफी सहयोग दिया है अतः वे धन्यवाद के पात्र है।

साथ ही साईवाड़, खोराबीसल और राजावास के स्त्री व पुरुष वर्ग विशेष धन्यवाद के पात्र है जिनको सत्साहित्य प्रकाशन की प्रेरणा मिलने से यह ग्रन्थ प्रकाश मे आगया है।

क्षुल्लक–शीतलसागर

(आ. महावीर कीर्तिजी के शिष्य)

* शुद्धिपत्र *

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२	४	निनषवः ।	निनीषवः ।
३	३	तत्त्विक ।	तात्त्विक ।
३	२२	ज्ञानारण ।	ज्ञानावरण ।
५	१६	अतन्तवें ।	अनन्तवें ।
६	३	अत्यान्ता भाव ।	अत्यन्ता भाव ।
१४	२	सन्नि कर्षादक ।	सन्नि कर्षादिक ।
१४	२०	ज्ञां ।	ज्ञातुं ।
२४	६	श्रत ।	श्रुत ।
२५	२	दृष्ट ।	दृष्टि ।
२७	१५	सबधित ।	सम्बंधित ।
३२	६	षत्थरों ।	पत्थरों ।
५२	२	सिद्ध ।	सिद्धि ।
५२	३	प्रत्यक्ष ।	प्रत्यक्षं ।
५५	५	यथात्म्य ।	याथात्म्य ।
५५	६	लोक ।	लोके ।
६८	१	सान्ध ।	संबन्ध ।
६९	११	सपेक्ष ।	सापेक्ष ।
७१	१०	जन ।	जैन ।
७१	२०	व्याधार ।	व्यापार ।
७३	२१	वायु ।	पायु ।
७४	२	दशने ।	दर्शने ।

७५	१	पदार्थों ।	पदार्थों ।
७८	१४	य ।	यह ।
८५	६	सिद्ध ।	सिद्धि ।
९६	१	पणाशा ।	प्रणाशा ।
९९	४	मर्गो ।	मार्गो ।
१००	७	अजित ।	अर्जित ।
१०१	४	सवृतिः ।	संवृतिः ।
११६	६	वर !	वीर !
११७	७	स ।	से ।
१३०	१२	वृत्तः ।	वृत्तेः ।
१३३	१५	लापाऽथ ।	लापाऽर्थ ।
१३५	४	भन्न ।	भिन्न ।
१३५	११	बधित ।	बाधित ।
१४६	४	कल्पत ।	कल्पित ।
१४६	६	निरपक्ष ।	निरपेक्ष ।
१४६	१८	स ।	से ।
१४८	२	गतिभवेत्तो ।	गतिर्भवेत्तो ।
१६४	११	सिद्ध	सिद्धे ।
१६५	९	हा ।	ही ।

विशेष-पृष्ठ ३२, पंक्ति १९ से 'का परिणामन गन्ध परमाणुओं की तरह अत्यन्त सूक्ष्म है । अतः जिस प्रकार गन्ध' इतना पुनः छपने से व्यर्थ है ।

श्री समन्तभद्र स्वामी विरचितं

युक्त्यनुशासनम्

(पूर्वार्ध)

[विस्तृत हिन्दी विवेचन सहित]

श्रीमान् तार्किक-चक्र-चूडामणि समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित आप्त मीमांसा नामक दार्शनिक ग्रन्थ में, कि जिसमें आप्त की मीमांसा प्रधानरूप से हेतुवाद द्वारा की गई है, वर्णित पद्धति के अनुसार अन्तिम तीर्थङ्कर श्री वीर प्रभु में आप्तता प्रसिद्ध हो जाने पर "मुझमें आप्तता का परीक्षण हो चुकने पर अब तुम क्या करने के इच्छुक हो" इस प्रकार मानों स्वयं प्रभु द्वारा पूछने पर श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य प्रत्युत्तर में इस प्रकार कहते हैं—

(उपजाति[1])

कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानम्,
त्वां वर्द्धमानं स्तुति-गोचरत्वम् ।

१—अन्तिम दो पद्यों के अलावा शेष ६३ पद्य इसी छन्द में हैं ।

निर्नीषवः स्मो वयमद्य वीरम्,
विशीर्ण-दोषाऽऽशय-पाश-बन्धम् ॥१॥

अन्वय—विशीर्णदोषाशयपाशबन्धं, वर्द्धमानं, महत्या कीर्त्या भुवि वर्द्धमानं, त्वां वीरं अद्य वयं स्तुतिगोचरत्वं निर्नीषवः स्मः।

अर्थ—हे वीर! द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप पाश की परतन्त्रता से सर्वथा रहित, निर्दोष ज्ञान संपन्न, एवं युक्ति और आगम से सर्वथा अविरुद्ध वाणी द्वारा साक्षात् तथा परंपरा रूप से समवसरण में एवं जगत में समस्त जनता के चित्त को संतुष्ट करने वाले आपको ही, अब हम मुमुक्षु जन यथार्थ स्तुति का लक्ष्य बनाने के अभिलाषी हुए हैं।

विवेचन-"आप्तेनोच्छिन्नदोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना। भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत्" समंतभद्र स्वामी द्वारा प्रतिपादित इस श्लोक के अनुसार वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता ये तीन गुण जिस आत्मा में हैं वही आप्त है। इनके बिना आप्तता नहीं हो सकती है। इस श्लोक द्वारा वीर प्रभु में—या चतुर्विंशति जिन समूह में, इन्हीं तीन गुणों की प्रसिद्धि होने से उनकी आप्त रूप से श्री स्वामी समंतभद्राचार्य जो अपने समय के एक विशिष्ट परीक्षाप्रधानी पुरुष थे, स्तुति करने के इच्छुक होते हुए कह रहे हैं कि हे वीर! अन्तिम तीर्थङ्कर!—या चतुर्विंशतिजिन समूह! आपने अपनी आत्मा से अज्ञान, रागद्वेष आदि दोषों का एवं ज्ञानावरण आदि कर्मों

की प्रकृति विशेष के उदय रूप आशय का सर्वथा विनाश कर दिया है, इसलिये, आप विशीर्णदोषाशय–वीतराग हैं। आपका केवलज्ञान रूप तात्त्विक ज्ञान अभ–समन्तात्–सब प्रकार से ऋद्धं प्रवृद्धं–परम अतिशय संपन्न है–त्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेय-राशि का युगपत् हस्त में रक्खे हुए आंवले की तरह प्रकाशक-जानने वाला अतीन्द्रिय है। आप अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग लक्ष्मी से सदा सुशोभित हैं, इसलिये सर्वज्ञ हैं। समवसरण में आगत समस्त जनता को साक्षात् रूप से, तथा त्रिजगत की जनता को परंपरा रूप से, आपकी अनुपम–पूर्वापर विरोध रहित दिव्य देशना–वाणी और वाणी–स्वरूप आपका आगम, आत्महित के मार्ग का प्रदर्शन कराने वाला होने से, उनके आप एक सच्चे हितोपदेशी-हितैषी हैं। इस प्रकार यहां "विशीर्णदोषाशयपाश-बन्ध, वर्द्धमान और कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमान" इन तीन अन्य योग व्यवच्छेदात्मक विशेषणों द्वारा प्रभु में प्रसिद्ध वीत-रागत्व, सर्वज्ञत्व और हितोपदेशकत्व का समर्थन प्रकट किया गया है।

अज्ञान, राग और द्वेष आदि दोष हैं। पूर्व दोष जिसके बल से आत्मा में जागरूक या अपनी सत्ता में रहें, वह आशय-संस्कार है। अज्ञानादि दोषों से उद्भूत संस्कार का नाम ही आशय है। अज्ञान आदि दोष आत्मा में आगन्तुक हैं, इसलिये ये आत्मा के विकारी भाव हैं। इसीलिये भाव कर्म हैं। इन्हीं का बोधक सूत्र में "दोष" यह पद है। ज्ञानावरण आदि कर्मप्रकृतियों

का विशेष उदय स्वरूप होने से आशय द्रव्यकर्म है। इन दोनों प्रकार के कर्मों के सर्वथा अभाव होने से ही आत्मा में वीतरागता के साथ सर्वज्ञता आती है। आत्मा में इन दोनों प्रकार के कर्मों का अभाव ही वीतराग-विज्ञानता का साधक है। इनके अभाव की सिद्धि स्वामी समन्तभद्राचार्य ने आप्तमीमांसा में इस कारिका द्वारा प्रकट की है—

दोषावरणयोर्हानि, र्निश्शेषाऽस्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद्यथास्वहेतुभ्यो, बहिरन्तर्मलक्षयः ॥

जिस प्रकार सुवर्ण आदि द्रव्य में किट्टकालिमादिक बहिरंग और अन्तरंग मैल की तरतमता होने से शुद्ध सुवर्ण में उसका सर्वथा अभाव देखा जाता है, ठीक उसी प्रकार से दोष और आवरण की भी हीनाधिकता हम संसारी जनों में प्रसिद्ध होती हुई सर्वथा अभाव रूप में कहीं न कहीं अवश्य है। जहां इनका सर्वथा अभाव है, वही वीतरागता है। किट्टकालिमादिक उभय प्रकार के मैल से रहित होने से ही, सुवर्ण की जिस प्रकार शुद्धि मानी जाती है, उसी प्रकार इन दोनों प्रकार के दोषों से निर्मुक्त होने से ही आत्मा की शुद्धि मानी गई है। इस शुद्धि का नाम ही वीतरागता है।

दार्शनिक पद्धति के अनुसार "धर्मी" प्रसिद्ध होता है। साध्य, अप्रसिद्ध और हेतु अपने साध्य के साथ अविनाभाव रूप सम्बन्ध से निश्चित होता है। "दोष और आवरण की हानि"

यह पक्षात्मक वाक्य धर्मी है और प्रसिद्ध है। क्योंकि सामान्य रूप में संसारी आत्माओं में, इनका थोड़े से भी रूप में जो अभाव न होता तो, इनके यत्किञ्चित् अभाव (क्षयोपशम) जन्य ज्ञानादिक कार्यों का, जो वहां तरतम रूप में विकास देखने में आता है, वही नहीं हो सकता। अतः यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि हम संसारी आत्माओं में, ज्ञानावरणादिक कर्मों की आंशिक रूप (क्षयोपशम रूप) में हानि है। जब यह बात निश्चित है, तो इससे यह भी युक्ति के बल पर मानना चाहिये कि कहीं न कहीं इनका सर्वथा ही अभाव है।

शंका—जिस प्रकार आप तरतमता रूप हेतु द्वारा, ज्ञानावरणादिकों की किसी आत्मा विशेष में सर्वथा हानि (अभाव) सिद्ध करते हैं, तो क्या इनकी इसी तरह से किसी आत्मा विशेष में कम से कम हानि भी होती है ?

उत्तर—हां, इनकी कम से कम हानि भी होती है और वह लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीव में पाई जाती है। वहां अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान शास्त्रकारों ने बतलाया है। यही वहां कम से कम इनकी हानि का फल है।

शंका—आपने जो दोष और आवरण की हानि को साध्य कोटि में रक्खी है, वह ठीक नहीं है, कारण कि जब साध्य अप्रसिद्ध होता है तो यह तो लोष्ठादिक पदार्थों में स्वतः प्रसिद्ध ही है। वहां दोष और आवरण की सर्वथा हानि है ही।

उत्तर—हानि शब्द का जो अर्थ तुम समझ रहे हो वह यहां नहीं है। हानि शब्द का मतलब यहां प्रध्वंसाभाव से है, न कि अत्यान्ताभाव से। यदि लोष्ठादिक अचेतन पदार्थों में, पहिले दोष और आवरणों का अस्तित्व सिद्ध होता, तो यह बात मानी जा सकती, कि वहां इनकी हानि है।

शंका—जब आपका यह सिद्धान्त है कि "न हि कश्चित् स पुद्गलोऽस्ति यो न जीवैरसकृद्भुक्तोज्झितः" ऐसा कोई सा भी पुद्गल नहीं बचा, जिसे जीवों ने बार बार भोगकर न छोड़ दिया हो, तो इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जब आत्मा ने उन लोष्ठादिक को अपने एकेन्द्रिय के शरीर रूप में ग्रहण किया था, तब-वहां पर आत्मा का सद्भाव होने से उनमें भी पहिले दोष और आवरण की सत्ता थी ही, और अब वहां पर नहीं है ?

उत्तर—इस कथन से यह कैसे आप सिद्ध कर सकते हैं, कि दोष और आवरण लोष्ठादिकों में थे। इससे तो यही सिद्ध होता है, कि जब आत्मा ने उन्हें एकेन्द्रिय के शरीर रूप में ग्रहण किया था, तब वे दोष और आवरण उस आत्मा के ही साथ थे, न कि लोष्ठादिकों में। जब वहां से अपनी आयु के क्षय होने पर वह आत्मा गत्यन्तरित हो गया, तब वे उसके अचेतन शरीर के रूप में पड़े रह गये। दोष और आवरण का सम्बन्ध शरीर के साथ नहीं है, किन्तु संसारी चेतन के साथ है।

शंका—जिस प्रकार आप तरतम रूप-हेतु से दोष और आवरण की सर्वथा हानि सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार हम यह

भी कह सकते हैं, कि बुद्धि का भी तो हम संसारी जीवों में तरतमभाव देखा जाता है, अतः इसका भी कहीं न कहीं सम्पूर्ण रूप से अभाव होना चाहिये ? परन्तु ऐसा तो होता नहीं है। क्योंकि ऐसी मान्यता में आत्मा के निज लक्षण का अभाव हो जाने से, या तो उसमें अज्ञता ही सिद्ध हो जायगी–या आत्म द्रव्य का निज लक्षण के अभाव में अभाव मानना पड़ेगा।

उत्तर—बुद्धि का सर्वथा अभाव अचेतन पृथ्वी आदिकों में माना ही है।

प्रश्न—वहां तो उसका अत्यन्ताभाव है–प्रध्वंसाभाव नहीं ?

उत्तर – नहीं, वहां अत्यन्ताभाव नहीं है, प्रध्वंसाभाव ही है। वह इस प्रकार है–पृथ्वीकायिक जीवों द्वारा जब पृथ्वी रूप पुद्गल शरीर रूप से ग्रहीत किया हुआ रहता है, तब उसमें बुद्धि रूप चेतना गुण का संबन्ध से अस्तित्व माना जाता है, पश्चात् जब वही पुद्गल अपनी आयु के अवसान होते ही उनके द्वारा छोड़ दिया जाता है, तब उसमें से उसकी निवृत्ति होने पर उसका अभाव हो जाता है। इस प्रकार उसमें सद्भाव पूर्वक ही अभाव सिद्ध होने से उसका वहां अत्यन्ताभाव न होकर प्रध्वंसाभाव ही है। चेतनगुणरूप बुद्धि का पृथ्व्यादिक अचेतन पुद्गल में सर्वात्मना अभाव होने से आत्मा में अपने निज लक्षणत्व के अभाव की आशंका कैसे आ सकती है। यह तो तभी संभव थी कि जब आत्मा में इसका सर्वथा अभाव माना

आता। परन्तु ऐसी मान्यता तो है नहीं। अतः इस प्रकार की मान्यता में न तो आत्मा का ही अभाव हो सकता है और न उसमें उसके सामान्य बुद्धि रूप लक्षण का ही।

प्रश्न—दोष और आवरण की हानि का अर्थ यदि आप प्रध्वंसाभाव करते हैं-तो वह हानि ज्ञानावरणादिक पुद्गल द्रव्य की कैसे हो सकती है? कारण कि "सतो न विनाशः असतश्च नोत्पादः" सत् पदार्थ का कभी विनाश नहीं होता है और असत् पदार्थ का कभी उत्पाद नहीं होता है, इस नियम के अनुसार ज्ञानावरणादि पुद्गलों का द्रव्यरूप होने से प्रध्वंसाभाव रूप क्षय कैसे हो सकेगा-अन्यथा मूलद्रव्य का विनाश मानने पर जैन सिद्धान्त की प्रक्रिया ही बिगड़ जायगी?

उत्तर—ऐसा नहीं है, ज्ञानावरणादिक पर्याय हैं। द्रव्य नहीं। कार्माण वर्गणा ही इन पर्यायों का द्रव्य है। निमित्त को लेकर जब इन वर्गणाओं में ज्ञानावरणादिक पर्याय रूप परिणमन हो जाता है तब उनकी कर्म संज्ञा हो जाती है। निमित्त के हटने पर द्रव्य अपने रूप में परिणमित होता रहता है। इस प्रकार कार्माण वर्गणा रूप द्रव्य कर्म पर्याय से रहित होकर अकर्म रूप पर्याय से परिणमित हो जाता है। निमित्त के मिलने पर जैसे वह कर्म रूप पर्याय से परिणमित होने का स्वभाव वाला था, उसी प्रकार निमित्त के हट जाने पर अकर्म रूप पर्याय से परिणमित होना भी उसका एक स्वभाव है। इसी का नाम आवरणादिक का क्षय है। जिस प्रकार सुवर्ण आदि

की शुद्धि उससे उसके मैल आदि के हट जाने पर होती है, इसी प्रकार आत्मा की शुद्धि भी कर्मरूप मैल के हटजाने पर होती है। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कह सकते हैं—केवल शुद्ध सुवर्ण की उपलब्धि ही उसके मैल की निवृत्ति जैसे मानी जाती है, उसी प्रकार केवल शुद्ध आत्म द्रव्य की उपलब्धि भी आवरणादिकों की निवृत्ति है। यह उनकी निवृत्ति या केवल आत्मा की उपलब्धि ही कर्मों का और मैल का क्षय है। यह क्षय वहां से उन पर्यायों का हट जाना रूप ही है।

प्रश्न—जिस प्रकार मिट्टी के वर्तमान रहने पर निमित्त के मिलते ही उसमें घट आदि पर्यायों का उत्पाद होता देखा जाता है; उसी प्रकार कार्माण द्रव्य के सद्भाव में, निमित्त मिलने से उसमें पुनः कर्मरूप पर्याय का जिस आत्मा में वह अकर्म रूप पर्याय से स्थित है, सद्भाव क्यों नहीं हो सकेगा—ऐसी परिस्थिति में आत्मा की ऐकान्तिक आत्यन्तिक शुद्धि कैसे मानी जा सकती है?

उत्तर—यह तो पहले ही प्रकट कर दिया गया है कि कार्माण वर्गणाओं का निमित्त कषायादिक के मिलने से ज्ञाना-वरणादि पर्याय रूप में परिणमन होता है। जब यह निमित्त ही सर्वथा उस आत्मा से हट गया, तो फिर मूल द्रव्य वर्तमान रहने पर भी निमित्त के अभाव में उस रूप में परिणमित हो ही नहीं सकता। दोष और आवरण का परस्पर में कार्य कारण

सम्बन्ध है। जब आत्मा से आवरण रूप कर्म हट जाते हैं, तब उनके हटते ही सम्यग्ज्ञानादिक गुणों की जागृति से दोष भी वहां से हट जाते हैं। इस प्रकार आत्मा क्रमशः आवरण और दोषों से सर्वथा रहित हो जाता है। इस अवस्था का नाम ही वीतराग अवस्था है। इसी अवस्था का सद्भाव प्रभु में "विशीर्णदोषाशयपाशबन्धं" इस विशेषण द्वारा श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य ने समर्थित किया है।

दोष और आशय को यहां पाश के समान जो प्रकट किया गया है, उसका आशय यह है–कि जिस प्रकार पाश–बन्धन स्वतंत्रता का अपहारक होता है; उसी प्रकार इन दोनों का सद्भाव भी आत्मा की पूर्ण विकसित अवस्था रूप स्वतंत्रता का रोधक होता है। इन दोनों के रहते हुए आत्मा कभी भी पूर्ण-रूप से शुद्ध नहीं हो सकती है। जबतक इनका अस्तित्व आत्मा में सूक्ष्म रूप से भी रहेगा–तब तक सदोषता के सद्भाव से, पूर्ण वीतरागता के अभाव में वास्तविक तत्त्वज्ञान सम्पन्नता उसमें आ ही नहीं सकती है।

शंका—परम्परा सम्बन्ध से राग आदि दोष अनादि हैं। इसलिये उनका क्षय नहीं हो सकता ?

उत्तर—जिस प्रकार अनादि सुवर्ण के मैल का खार मिट्टी के पुट पाक आदि से विनाश होना देखा जाता है-उसी प्रकार अनादि राग आदि दोषों का भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और

सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के अभ्यास से नाश हो जाता है। इनके अभाव में ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। जिसका समर्थन "वर्द्धमान" यह पद करता है।

शंका—मान लिया कि आत्मा से दोषादिकों का सर्वथा अभाव हो जाता है-इसलिये वह निर्दोष-वीतराग बन जाती है; परन्तु इससे यह बात कैसे सिद्ध हो सकती है कि वह सर्वज्ञ-सर्वज्ञाता-पूर्णतत्वज्ञान सम्पन्न भी हो जाती है। क्योंकि हम प्रत्यक्ष में इस परिस्थिति का अनुभवन करते हैं, कि इन्द्रियां सर्वथा निर्मल होने पर भी अपने योग्य वर्तमान कालिक पदार्थों का ही ग्रहण करती हैं, अयोग्य-अविषय का नहीं। ग्रहण तथा घनपटल के आवरण से रहित हुआ भी सूर्य, अपने योग्य वर्तमानकाल के पदार्थों का ही प्रकाशक होता है, अयोग्य-भूत भविष्यत काल के पदार्थों का नहीं ?

उत्तर—यह कहना युक्त नहीं। कारण कि यह कहना उस समय शोभास्पद माना जा सकता कि जब आत्मा अविषय में प्रवृत्ति करने वाली होती। चक्षुरादिकों का अपने योग्य वर्तमान कालीन पदार्थों का प्रकाशन करना ही स्वभाव है, भूत-भविष्यत काल के पदार्थों का प्रकाशन करना यह उनका स्वभाव नहीं है। त्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेय राशि का युगपत् जानना आत्मा का यह निज स्वभाव है। परन्तु जब तक दोष और आवरण इसके ज्ञानादिक गुणों पर आवरण डाले रहते हैं, तब तक उसका स्वभाव प्रकट नहीं हो पाता है। इनके विगम होते ही आत्मा में अपने

निज स्वभाव की प्रकटता हो जाती है। इसी का नाम सर्वज्ञता है। यह सर्वज्ञता उसमें कहीं से आती नहीं है, किन्तु उसमें ही यह प्रकट होती है। जिस प्रकार सूर्य का स्वभाव पदार्थों को प्रकाशित करने का है, परन्तु जब उस पर बादलों का आवरण आदि आ जाता है तब उसका वह स्वभाव आवृत होने से दब जाता है, और उस आवरण के हटते ही वह स्पष्ट रूप में प्रकट हो जाता है। वर्तमान कालीन अपने योग्य पदार्थों को प्रकाशित करना यही सूर्य का स्वभाव है, अयोग्य पदार्थों को प्रकाशित करने का नहीं। इसी प्रकार नेत्रादिक उपघातादि दोषों से रहित होकर अपने योग्य विषयों को ही ग्रहण करते हैं, अविषय को नहीं। जितने अंश में इन्द्रियां निर्दोष होंगी उतने ही अंश में वे अपने ग्राह्य विषय का स्पष्ट रूप से प्रकाशन करेंगी। जहां इन समस्त आवरणादिकों का सर्वथा विलय हो जायगा, उस आत्मा में समस्त ज्ञेय राशि को प्रकाशित करने का स्वभाव जो उन आवरणों से पहिले से आवृत हो रहा था, क्यों नहीं स्पष्ट प्रकाशित हो जायगा? अवश्य हो जायगा। इसमें अचरज की कोई बात ही नहीं है। जिस प्रकार आकाश में परिमाण की सर्वोत्कृष्टता पाई जाती है, उसी प्रकार यह भी स्वीकार अवश्य करना चाहिये कि किसी न किसी जीव में ज्ञान की भी सर्वोत्कृष्टता पाई जाती है। ज्ञान की सर्वोत्कृष्टता ही सर्वज्ञता है।

शंका—"श्री वर्द्धमान" इस पद से ही जब प्रभु के ज्ञान में अनन्तता सिद्ध कथित होती है, तो फिर स्वतन्त्र रूप से "मान"

इस पद का प्रयोग ग्रन्थकार ने क्यों किया ? कहने का तात्पर्य यह है कि पहिले आपने "श्री" शब्द का अर्थ "अन्तरङ्ग" और बहिरंग लक्ष्मी" ऐसा किया है और प्रभु इस अन्तरङ्ग और बहिरंग लक्ष्मी से सनाथ हैं, ऐसा आपका कथन है, तब अन्तरंग लक्ष्मी में ही अनन्तज्ञान—केवलज्ञान का समावेश होने से प्रभु में ज्ञान की अनन्तता—केवलज्ञान विशिष्टता सिद्ध हो ही जाती है, तब "अवृद्धमानं प्रमाणं यस्य सः" ऐसा कहकर स्तुतिकार ने इसका स्वतन्त्र रूप से कथन क्यों किया ?

उत्तर—शंका तो ठीक है, परन्तु यहां पर जो स्वतंत्र रूपसे उसका कथन किया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि प्रभु का अनन्त ज्ञान ही संसारी भव्यात्माओं का उपकारक होता है। इसके प्रकाशित हुए बिना प्रभु की देशना नहीं होती है। इसके द्वारा सामान्य विशेष धर्मात्मक समस्त ज्ञेय राशि को जानकर ही प्रभु भव्यात्माओं को हित का उपदेश देते हैं। दूसरा समाधान इसका यह भी है कि स्वपर व्यसायात्मक तत्त्वज्ञान ही प्रवृद्ध प्रमाण है अन्य नैयायिक एवं बौद्धादिक द्वारा स्वीकृत सन्निकर्ष तथा निर्विकल्पक दर्शन आदिकों में स्व और पर के व्यवसाय से रहित होने से प्रवृद्ध प्रमाणता नहीं आ सकती है। अपने स्वरूप का और बाह्य पदार्थों के स्वरूप का निर्दोष रीति से निश्चय कराने वाले तत्त्वज्ञान में ही प्रवृद्ध प्रमाणता आती है। प्रमाण सामान्य का लक्षण परीक्षामुख में "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं" ऐसा ही कहा है। इसका निष्कर्ष यही निकलता है कि "जो प्रमिति

क्रिया के प्रति करण होता है वही प्रमाण है। प्रमिति क्रिया के प्रति साधकतम रूपसे करणता ज्ञान में ही आती है, सन्निकर्षादिक में नहीं। इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध का नाम सन्निकर्ष है। यह सन्निकर्ष प्रमिति क्रिया के उत्पन्न करने में साधकतम नहीं है, साधकतम तो ज्ञान ही है। जैसे "देवदत्त कुठार से काष्ठ को छेदता है।"

शंका— दोष और आशय के सर्वथा विलीन होने से जब केवल ज्ञान रूप वर्धमानता प्रभु में सिद्ध हो जाती है तो फिर "वर्द्धमान" इस पद द्वारा उनमें उसे प्रसिद्ध करने की अथवा समर्थन करने की स्तुतिकार को क्या आवश्यकता थी? इस प्रकार स्वतः प्रसिद्ध धर्म को साध्य करने से उसमें साध्यता नहीं आ सकती है। अप्रसिद्ध[1] ही साध्य होता है, सिद्ध नहीं?

उत्तर—यहां पर सिद्ध को साध्य नहीं किया गया है और न उसका समर्थन ही। कितने ही ऐसे भी वादी हैं जो दोषों के नाश होने पर भी प्रभु में ज्ञान की अनन्तता स्वीकार नहीं करते। वैशेषिकों का यह सिद्धान्त[2] है कि "ईश्वर समस्त ज्ञेय राशि को जाने अथवा नहीं जाने इससे हमारा कोई मतलब नहीं। वह इष्ट पदार्थों को जाने इतना ही बस है। वह कीड़ों की संख्या करने

---

(१) "इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्" परीक्षामुख (२) सर्वं पश्यतु वा मा वा, इष्टं तत्त्वं तु पश्यतु। कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य न क्वोपयुज्यते। तस्मादनुष्ठानगतं, ज्ञानमस्य विचार्यतां। प्रमाणं दूरदर्शी चेत्, एतं गृद्धानुपास्महे॥

को बैठे इससे हमें क्या लाभ ? अतः उसमें उपयोगी ज्ञान की ही प्रधानता है। यदि दूरदर्शी को प्रमाण माना जावे तो फिर गीध पक्षियों को भी हमें प्रमाणभूत मानकर पूज्य मानना चाहिये।" निष्कर्ष कहने का यही है कि वैशेषिक लोग ईश्वर को दोषादि रहित मानकर भी उसे सकल पदार्थों का ज्ञाता नहीं मानते। इसलिये स्तुतिकार ने इस "वर्द्धमान" पद से त्रिभुवन गुरु श्री वीर प्रभु में ज्ञान की अनन्तता—केवलज्ञान रूप सर्वज्ञता सिद्ध की है। क्योंकि जब तक अनन्त पदार्थों का जानने वाला ज्ञान-अनन्त ज्ञान न होगा, तब तक किसी भी इष्ट तत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। आगम का यह वचन[1] है कि जो समस्त पदार्थों का युगपत् ज्ञाता नहीं है; वह एक पदार्थ का भी यथार्थ ज्ञाता नहीं हो सकता। अतः दोष और आशय के नष्ट होने की तरह अनन्त विज्ञान रूप वर्धमानता की भी आवश्यकता है। इसके बिना किसी भी पदार्थ का ठीक २ परिज्ञान नहीं हो सकता। दूसरे[2]. किसी अपेक्षा से विशीर्ण दोषाशयता १२ वें गुणस्थानवर्ती जीवों के भी है। यदि इसके अभाव में उसका अवश्य २ सद्भाव माना जावेगा, तो वहां पर भी वर्द्धमानता माननी पड़ेगी। अतः "यत्र २ विशीर्ण दोषाशयता तत्र २ वर्द्धमानता" इस प्रकार की व्याप्ति नहीं बन सकती।

---

(१) जो ण विजाणदि अत्थे, तिक्कालिगे तिहुवणत्थे। णादुं तस्स ण सक्कं, सपज्जगं दव्वमेगं वा॥ (प्रवचनसार १ गा-४८)।

(२) उदय व्युच्छित्ति तथा अनुदय की अपेक्षा से।

शंका— इसमें क्या प्रमाण है कि प्रभु में विशीर्णदोषाशयता से वर्द्धमानता है ? बिना हेतु के कहने मात्र से साध्य की सिद्धि नहीं होती है।

उत्तर—"ज्ञानतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तारतम्यत्वात् आकाशे परिमाणतारतम्यवत्" जैसे आकाश में परिमाण की सर्वोत्कृष्टता पायी जाती है, उसी प्रकार किसी न किसी आत्मा में ज्ञान की भी सर्वोत्कृष्टता पायी जाती है। जिसमें यह उत्कृष्टता है वही सर्वज्ञ है। तथा–जो अनुमान के विषय होते हैं–वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय होते हैं–जैसे अग्नि अनुमान का विषय होने से किसी न किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होती है। स्वभाव से सूक्ष्मपरमाणु आदि, देश की अपेक्षा दूर सुमेरु पर्वत आदि, और काल की अपेक्षा दूर वर्ती राम रावण आदि पदार्थ जो कि इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष के द्वारा स्पष्ट ग्रहण करने में नहीं आते हैं अनुमेय–मात्र अनुमान गम्य हैं, अतः ये भी किसी न किसी के स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष के विषय हैं। जिसके ये स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष के विषय हैं, वही सर्वज्ञ है। वे सर्वज्ञ वीर[1] प्रभु ही हैं।

शंका—इन पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने से उनमें सर्वज्ञता कैसे आ सकती है ? कारण कि ये अन्तरित आदि पदार्थ तत्

(१) वीर प्रभु ही सर्वज्ञ हैं इसे अष्टसहस्री में "स त्वमेवासि निर्दोषो, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्। अविरोधी यदिष्टं ते, प्रसिद्धेन न बाध्यते" इस कारिका द्वारा सिद्ध किया गया है।

तत् समयवर्ती पुरुषों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से जाने ही जा चुके हैं। उन्होंने अपने २ समय में इन्हीं का साक्षात् प्रत्यक्ष किया ही है। अतः जो इस प्रकार के प्रत्यक्ष से सर्वज्ञता की सिद्धि मानी जावेगी, तो फिर क्या है—उनके समय में रहे हुए उनके ज्ञाता जन सब ही सर्वज्ञ सिद्ध हो जावेंगे ?

उत्तर—इसका यह अभिप्राय नहीं है। यहां तो यह कहा जा रहा है, कि जो अनुमेय होते हैं वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष होते हैं जैसे—अग्नि। यह अनुमेय है अतः किसी न किसी के प्रत्यक्ष का विषय है। इसी प्रकार सूक्ष्मादिक पदार्थ भी अनुमेय हैं, अतः किसी न किसी के साक्षात् स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष के विषय हैं। जिनके ये स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं वही सर्वज्ञ है।

शंका—हमारी शंका का तो इस आपके प्रत्युत्तर से कोई समाधान ही नहीं होता है। कारण कि हम यही तो कह रहे हैं कि जिस प्रकार अग्नि अनुमेय होती है और फिर किसी न किसी के प्रत्यक्ष होती है, उसी प्रकार ये सूक्ष्म, अन्तरित आदि पदार्थ भी हमारी अपेक्षा अनुमेय हैं और अपने समयवर्ती पुरुषों के लिये इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष ग्राह्य होने से प्रत्यक्ष हुए हैं। अतः उनमें भी "सूक्ष्मादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः अनुमेयत्वात् अग्न्यादिवत्" इस अनुमान द्वारा सर्वज्ञता कैसे सिद्ध नहीं हो सकेगी ?

उत्तर—सर्व प्रथम यह जान लेने की आवश्यकता है, कि प्रत्यक्ष का क्या स्वरूप है। यहां पर जिस प्रत्यक्ष को लेकर उनमें प्रत्यक्ष होने की बात आप कह रहे हैं, उस प्रत्यक्ष की यहां बात नहीं है। जैन दर्शनकारों की दृष्टि में इन्द्रिय जन्य ज्ञान परापेक्ष होने से, पदार्थ का पूर्ण रूप से ज्ञाता- जानने वाला नहीं हो[1] सकता है। कारण कि किसी पदार्थ को केवल ऊपरी रूप से जाननेवाला इन्द्रियजन्य ज्ञान, उसकी और भी आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थिति का पूर्ण स्पष्ट रूप से ज्ञाता नहीं होने के कारण अस्पष्ट- परोक्ष ही माना गया है। प्रत्यक्ष नहीं। जिस प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा नहीं है, और जो सम्पूर्ण आवरणादिक – द्रव्यकर्मादिक के सर्वथा क्षय होने से, केवल आत्मा मात्र से उत्पन्न होता है, वही वास्तविक प्रत्यक्ष[2] है। अतः जिस प्रकार हम अपने समय में अपने समयवर्ती पदार्थों को अस्पष्ट रूप से जानते हैं और उसे प्रत्यक्ष जैसा[3] मान लेते हैं, उसी प्रकार से वे भी उन्हें जानते थे। अतः इस रूप से जानने वाले जैसे हम और आप उन पदार्थों

१-"सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्ध संभवात्"
परीक्षामुख अ० २ सू० १२।

(२) सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यं
परी. अ. २ सू. ११।

(३) "इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यावहारिकं"
परी. अ. २ सूत्र. ५।

के पूर्ण ज्ञाता नहीं होते हैं, इसी तरह से उन्हें भी समझना चाहिये। सर्वज्ञ वही है, जो बिना इन्द्रियादिकों की सहायता से, प्रत्येक पदार्थ को उनकी समस्त त्रिकालवर्ती पर्यायों से सहित जाने। वर्तमान में भी समस्त पदार्थों का और उनकी समस्त पर्यायों का साक्षात् ज्ञाता एक सर्वज्ञ ही है, अन्य नहीं।

शंका — यदि इन सूक्ष्मादिक पदार्थों को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा ग्रहण करने योग्य आप सिद्ध करते हैं, तो फिर "सूक्ष्मादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वात अग्न्यादिवत्" इस अनुमान वाक्य में जो "अग्नि" यह अन्वय दृष्टान्त दिया गया है, उसमें साध्यविकलता नाम का दोष[1] आता है। दूसरे इस प्रकार से "अनुमेयत्व" साधन की और "प्रत्यक्षत्व" साध्य की व्याप्ति भी नहीं बन सकती है?

उत्तर—इस प्रकार के कथन से, न दृष्टान्त में साध्य विकलता आती है और न व्याप्ति का विघटन ही होता है, कारण कि व्याप्ति जो हुआ करती है, वह सामान्य[2] रूप से ही साध्य और साधन की होती है। जैसे— "जहां २ धूम होगा वहां २ अग्नि होगी" इस प्रकार की व्याप्ति में सामान्य धूम और सामान्य

(१) अन्वय दृष्टान्ताभास के तीन भेद है। उनमें एक साध्यविकल भी है। जैसे— "अपौरुषेयः शब्दः अमूर्तत्वात्, इन्द्रियसुखवत्" यहां "इन्द्रियसुख" यह दृष्टान्त "अपौरुषेय" साध्य से रहित है— क्योंकि वह पौरुषेय— पुरुषकृत होता है।

(२) "सामान्येन तु व्याप्तिः" परी० सूत्र३।४०।

अग्नि का ही सम्बन्ध प्रदर्शित किया जाता है- विशेष का नहीं, अन्यथा[1] व्याप्ति ही नहीं बन सकती है। उसी प्रकार यहां पर भी यही बात सर्वप्रथम सामान्य रूप से प्रकट की गई है, कि "जहां अनुमेयता होगी, वहां २ प्रत्यक्ष ज्ञानगम्यता होगी" जैसे अग्नि में अनुमेयता है, अतः वहां प्रत्यक्ष ज्ञान गम्यता है। इसी प्रकार सूक्ष्मादि पदार्थ भी अनुमेय हैं, अतः वे भी किसी न किसी के प्रत्यक्ष होने चाहिये। जिसके ये प्रत्यक्ष हैं, उसका वह प्रत्यक्ष-ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं हुआ है; क्योंकि इन्द्रियों में और उनसे उत्पन्न हुए ज्ञान में इतनी शक्ति कहां है, जो अपने द्वारा अविषय-अग्राह्य, सूक्ष्मादिक पदार्थों को स्पष्टरूप से युगपत् जान सकें। अतः जिस प्रकार से इन्द्रियों के विषयभूत अग्नि आदि पदार्थों में अनुमेयता इन्द्रियों से उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष, प्रत्यक्षज्ञान रूप साध्य के साथ देखी जाती है; उसी प्रकार सूक्ष्मादिक अतीन्द्रिय (इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं हो सकने वाले) पदार्थों में भी वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान रूप साध्य के साथ ही सम्बन्धित है, यह बात सिद्ध करती है। कारण कि उन पदार्थों के ज्ञाता का ज्ञान इन्द्रियातिक्रान्त है। इस विषय का विशेष विवेचन न्याय ग्रन्थों में किया गया है।

यह वीतरागता और सर्वज्ञता अर्हन्त प्रभु के सिवाय अन्यत्र नहीं पायी जाती है, क्योंकि उनके वचनों में पूर्वापर विरोध नहीं आता है। इसका भी यही कारण है कि उनके

---

(१) "अन्यथा तदघटनात्" परी० सू. ३३ अ. ३।

प्रतिपादित तत्त्व, प्रत्यक्ष और अनुमान किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं होते हैं। कारण कि वचनों में विसंवादकता के कारण अथवा अयथार्थता लाने के कारण, राग[१] द्वेष और मोह हैं। जिस आत्मा से ये पूर्वोक्त दोष सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो चुके हैं, भला उसके वचनों में असत्यता या अयथार्थता आ भी कैसे सकती है ? अर्थात् नहीं आ सकती है। इस प्रकार वीर प्रभु में निर्दोषता और सर्वज्ञता की सिद्धि का दिग्दर्शन कराते हुए स्तुतिकार ने "कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं" इस विशेषण द्वारा उनमें हितोपदेशकता का समर्थन किया है। वह इस प्रकार से-"कीर्त्यन्ते जीवाद्यस्तत्त्वार्था यया सा कीर्तिः" इस व्युत्पत्ति द्वारा कीर्ति शब्द का अर्थ यहां पर वाणी है। प्रभु अपनी अनुपम वाणी द्वारा जीवादिक प्रयोजनभूत तत्त्वों का असंदिग्ध निरूपण करते हैं। इस निरूपण में पूर्वापर में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं आता है। इसी हार्दिक अर्थ को प्रकट करने वाला "महती" यह वाणी का विशेषण पद है। प्रभु की दिव्य वाणी युक्ति और आगम से अविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करती है क्योंकि उसमें सत्यार्थ प्रतिपादन करने रूप धर्म को रोकने वाले जो दोष और आशय थे, वे प्रभु ने सर्वथा ही ध्वस्त कर दिये हैं। अतः "पुरुषप्रामाण्यात् वचनप्रामाण्यं" इस सिद्धान्त के अनुसार प्रभु की वाणी साक्षात् रूप

(१) "रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतं।
यस्तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं किं स्यात्॥" स्या. मं.।

से समवशरण में उपस्थित जनता मात्र के और परंपरा सम्बन्ध से त्रिभुवन के जीवों के चित्त को मुदित करने वाली होती है।

प्रश्न—"विशीर्णदोषाशयपाशबन्ध" इस पद से वीतरागता का, "वर्द्धमान" इस पद से सर्वज्ञता का और "महत्या कीर्त्या भुवि वर्द्धमानं" इस पद से हितोपदेशकता का स्तुतिकार ने वीर प्रभु में समर्थन करते हुए, जो यह कहा है कि "त्वां वा वीरं" आप वीर की ही स्तुति करूंगा, सो इस प्रकार का उनका कथन सिद्धान्त से विपरीत हो जाता है। क्योंकि इस प्रकार के कथन से तो इसी बात की पुष्टि होती है कि वीर प्रभु ही सर्वज्ञ आदि विशेषण विशिष्ट हैं, और वे इसीलिये उन्हीं की स्तुति करना चाहते हैं, अन्य तीर्थंकरादिक की नहीं ?

उत्तर—यह बात नहीं है। क्योंकि यह तो पहिले ही प्रकट कर दिया जा चुका है कि "वीर" इस शब्द से चौबीस तीर्थंकरों का भी ग्रहण होता है। क्योंकि वि–विशिष्ट–अन्य रागी द्वेषी आदिकों में नहीं पाई जाने वाली-"ईर"–लक्ष्मी-अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप अन्तरङ्ग लक्ष्मी, तथा समवशरणादिक रूप बहिरंग लक्ष्मी जिसकी है, वह वीर है। इस व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ के अनुसार, समस्त तीर्थंकरादिकों का यहां ग्रहण सिद्ध हो जाता है। अतः स्तुतिकार में ऐसा कोई भी पक्षपात सिद्ध नहीं होता, जो वे वीर की ही स्तुति करने के अभि-लाषी हों, अन्य तीर्थंकरादिकों की नहीं। निष्कर्ष कहने का यही

है, कि जिस प्रकार अन्तरंग अनन्त चतुष्टयादि विभूति और बहिरंग समवशरण आदि की रचना रूप विभूति वीर की थी उसी प्रकार से अन्य समस्त तीर्थंकरों की भी थी। अतः वीर की स्तुति ही चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति है।

प्रश्न—अन्तरङ्ग विभूति के कथन से जब अनन्तज्ञान रूप केवलज्ञान का सद्भाव प्रभु में सिद्ध हो जाता है, तो फिर "वर्द्ध-मान" पद से उसकी स्वतंत्र सत्ता की घोषणा स्तुतिकार ने क्यों की ?

उत्तर—यह बात हम पहिले प्रकट कर चुके हैं, कि समस्त संसारी जीवों का उपकारक प्रभु का केवलज्ञान ही होता है। इसके प्राप्त हुए बिना, प्रभु कभी भी मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं देते हैं। अतः केवलज्ञान में इतर गुणों की अपेक्षा प्रधानता प्रकट करने के लिये, उसका स्वतंत्र रूप से यहां कथन किया है।

प्रश्न—श्लोकस्थ "अद्य" यह शब्द किस अर्थ का द्योतक है ?

उत्तर—इस शब्द से स्तुतिकार ने यह प्रकट किया है, कि जब प्रभु वीर में आप्तत्व का परीक्षण हो चुका, तब हम उन्हें आप्त मानकर, अब उनकी स्तुति करने के अभिलाषी हुए हैं।

प्रश्न—आपने पहिले 'वर्द्धमान' इस शब्द का ऋद्ध-प्रवृद्धं मानं प्रमाणं यस्य सः "वर्द्धमानः" ऐसा पदच्छेद कर जो अर्थ किया है वह कैसे किया ?

उत्तर—"वर्द्धमान"[1] इस पद में "वा ऋद्ध मान" ऐसे ये तीन पद हैं। वा और "ऋ" इनके स्थान में "आद्‌गुणः" इस सूत्र से "उरणरपरः" की सहायता से "अर्" गुण होकर वर्द्धमान पद बनता है। वा शब्द का अर्थ "ही" है। ऋद्ध शब्द का अर्थ सर्वोत्कृष्ट और मान शब्द का अर्थ प्रमाण है इतर मति, श्रुत आदि ज्ञानों की अपेक्षा जिनका ज्ञान सर्वोत्कृष्ट है, वह वर्द्धमान है ऐसा इसका फलितार्थ है। वा के अर्थ "ही" का संबंध 'त्वां' के साथ हुआ है। 'त्वां' के साथ 'ही' का सम्बन्ध करने पर जो इतर तीर्थंकरादिकों की स्तुति नहीं करने रूप आशंका उपस्थित की गई थी, उसका समाधान हम पहिले कर चुके हैं।

इस कथन से यही निष्कर्ष निकला, कि स्याद्वाद नय से सुसंस्कृत होने से तत्वज्ञान रूप केवलज्ञान ही, प्रभु में प्रमाण रूप से प्रतिपादित किया गया है। क्योंकि वही युगपत् सब पदार्थों का प्रकाशक[2] माना गया है। अन्य नहीं।

प्रश्न—सन्निकर्ष एवं निर्विकल्पक ज्ञान, कि जिन्हें नैयायिक और बौद्ध दार्शनिकों ने प्रमाण माना है, क्या वे तत्वज्ञान नहीं हैं, जिससे उनका यहां ग्रहण न करके, केवल केवलज्ञान का ही ग्रहण किया है और उसे ही युगपत् समस्त पदार्थों का प्रकाशक माना गया है?

१—ऐसा ही अभिप्राय टीकाकार श्री विद्यानन्द स्वामी का है।

२—सर्व द्रव्यपर्यायेषु केवलस्य (त० सू० अ० १)

उत्तर—हां ये ज्ञान तत्वज्ञान रूप नहीं है। जैन दार्शनिकों की दृष्टि में तत्त्वज्ञान को ही प्रमाण[1] माना है। अपने आपका और पर पदार्थों का निश्चय कराने वाला जो ज्ञान है वही तत्त्वज्ञान रूप से मान्य किया गया है। सन्निकर्ष न अपना निश्चायक होता है और न पर पदार्थ का। "इन्द्रियार्थ सम्बन्धः सन्निकर्षः" इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध का नाम सन्निकर्ष है—यही सन्निकर्ष का लक्षण है। यह लक्षण चक्षु एवं मन के साथ घटित नहीं होता है। अतः इसमें अव्याप्ति नाम का दोष आता है। कारण कि ये दोनों ही इन्द्रियां अपने विषयभूत पदार्थों से सम्बन्धित[2] नहीं होती हैं-क्योंकि[3] स्पर्शन-रसना-घ्राण और कर्ण इन्द्रिय की तरह ये प्राप्यकारी नहीं मानी गई हैं। जो प्राप्यकारी होती हैं, वे ही पदार्थ से सम्बधित भिड़कर पदार्थ का ज्ञान कराती हैं। ये दोनों इन्द्रियां बिना भिड़े ही पदार्थ का ज्ञान कराती हैं। यदि चक्षुरिन्द्रिय को प्राप्यकारी—पदार्थ से संबधित होकर पदार्थ का ज्ञान कराने वाली माना जावे, तो शाखा[4] और उसकी ओट में रहे हुए चन्द्रमा का जो एक ही

१—तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते, युगपत्सर्वभासनं।
क्रम भावि च यज्ज्ञानं, स्याद्वाद नयसंस्कृतं ॥१०१॥ (आप्तमीमांसा)

(२) "न चक्षुरनिन्द्रियाभ्या" (त. सू. अ. १)

(३) "पुट्ठं सुणेदि सद्दं अपुट्ठं पुण पस्सदे रूवं" इत्या. सर्वा. सि.

(४) शाखासुधादीधितिसमानकालग्रहणायन्यथानुपपत्तेः चक्षुरप्राप्यकारीति निश्चीयते। न्याय. दी. पृ. ६।

"शाखाचन्द्रमसोरेककाल-दर्शनानुपपत्तिश्च" प्रमेय २. १८६

काल में ग्रहण होता है, वह नहीं होना चाहिये। यदि यहां यह कहा जावे, कि चक्षु पहिले शाखा से संबंधित होती है और पश्चात् चन्द्रमा से, सो यह भी ठीक नहीं; कारण कि इस प्रकार का कालक्रम अनुभव में नहीं आता है। अतः यह अवश्य मानना चाहिये कि "चक्षुरप्राप्तार्थप्रकाशकं[2] तत्कृतोपघातानुग्रहाभावात्", चक्षु इन्द्रिय पदार्थ से दूर रह कर ही पदार्थ का प्रकाशन करती है–क्योंकि यदि पदार्थ से भिड़कर उसका प्रकाशन चक्षुइन्द्रिय द्वारा होता, तो उस पदार्थ के द्वारा उस इन्द्रिय में उपघात और अनुग्रह अवश्य ज्ञात होता। परन्तु ये दोनों बातें उसमें नहीं प्रतीत होती हैं। यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण ये चार इन्द्रियां पदार्थों को प्राप्त कर प्रकाशित करती हैं; उनमें उन पदार्थों के सम्बन्ध से उपघात और अनुग्रह स्पष्ट प्रतीत होते हैं। जैसे कठोर कम्बल आदि के स्पर्श से स्पर्शन इन्द्रिय में, कडवी औषधि आदि के स्वाद से रसना इन्द्रिय में, अपवित्र सुगंध आदि के सूंघने से घ्राण इन्द्रिय में और भेरी आदि के शब्दों के श्रवण से कर्ण इन्द्रिय में चमडी में गढना आदि रूप उपघात तथा चंदन एवं अङ्गना आदि पदार्थों के स्पर्श से स्पर्शन इन्द्रिय में, शक्कर आदि के स्वाद से रसना इन्द्रिय में, सुगंध के सूंघने से घ्राण इन्द्रिय में, मधुर शब्दों के श्रवण से कर्ण इन्द्रिय में,

(१) "कालव्यवधानानुपलब्धेः" प्रमेय र. १८६

(२) विशेष्यावश्यक भाष्य।

शीतलता आदि रूप अनुग्रह प्रत्येक जन को स्पष्ट रूप से प्रतीत होते हैं। इस प्रकार से ये उपघात और अनुग्रह नेत्र इन्द्रिय में अपने विषय द्वारा होते हुए अनुभव में नहीं आते। करोंत आदि के देखने से, आखों में न तो चिरना आदि रूप उपघात प्रतीत होता है और न चंदन या अगुरु आदि शीतलता दायक पदार्थों के देखने मात्र से उनमें शीतलता आदि रूप अनुग्रह मालूम होता है।

शंका—इस प्रकार की मान्यता से "कि विषयकृतउपघात और अनुग्रह चक्षुइन्द्रिय में प्रतीत नहीं होते, अतः वह अप्राप्त अर्थ को ही जनाती है" श्रोत्र और घ्राण इन्द्रिय में भी यही बात स्पष्ट अनुभवित होती है। ये भी तो अपने २ विषय को इस प्रकार से प्राप्त होकर नहीं जनाती हैं। यह तो प्रत्येक व्यक्ति के प्रतिदिन का अनुभव है, कि श्रोत्र और घ्राण इन्द्रियां जहां शब्द का उच्चारण होता है, एवं जहां गंध द्रव्य रखा रहता है, वहां जाकर उनसे थोड़े ही सम्बंधित होती हैं। न तो शब्द श्रोत्र इन्द्रिय के पास आकर उसमें घुसता हुआ प्रतीत होता है और न श्रोत्र इन्द्रिय शब्द के देश में जाकर उसे विषय करती हुई मालूम देती है। घ्राण इन्द्रिय से भी गंध इसी प्रकार से जाना जाता है। अतः चक्षु इन्द्रिय की तरह ये दोनों इन्द्रियां भी अप्राप्त अर्थ की प्रकाशक हैं, ऐसा मानना चाहिये। क्योंकि ये दोनों इन्द्रियां चक्षु की तरह अपने २ विषय से दूर रहकर ही उसे जनाती हैं।

उत्तर—यह तो ठीक है कि कर्ण और घ्राण इन्द्रियां अपने २ विषय को विषय के देश में जाकर नहीं जनाती हैं; फिर भी जो इनके द्वारा इनका ग्रहण होता है उसका कारण यह है, कि शब्द और गंध पौद्गलिक होने से क्रिया (गमन) युक्त हैं। अतः ये स्वयं अपने को विषय करने वाली इन्द्रियों के पास अनुकूल वायु आदि द्वारा प्रेरित होकर आते हैं और उनके द्वारा जनाये जाते हैं।

प्रश्न—गंध द्रव्य भले ही पौद्गलिक होने से क्रिया-युक्त हो, इसमें हमें कोई विवाद नहीं है। परन्तु शब्द पौद्गलिक होने से क्रिया विशिष्ट है, यह बात समझ में नहीं आती। कारण कि एक तो-वह स्पर्श से रहित है, दूसरे अत्यन्त सघन प्रदेश में प्रवेश करते और निकलते हुए नहीं रुकता है, तीसरे उसके पूर्व और पश्चात् कोई अवयव दिखाई नहीं देते, चौथे-वह मूर्त द्रव्यों का प्रेरक नहीं और पांचवें वह आकाश का गुण है। पौद्गलिक मानने में ये सब ही बातें उसमें घटित नहीं हो सकती हैं।

उत्तर—ये पांचों ही प्रकार की मान्यताएं शब्द में अपौद्ग-लिकता की साधक नहीं होती हैं, कारण कि गंध परमाणुओं में भी ये ही आक्षेप उपस्थित होते हैं। शब्द में जो तुम स्पर्श गुण का अभाव कहते हो, सो भी नहीं है; कारण कि शब्द भाषावर्गणा रूप पुद्गलों से निष्पन्न होता है। आकाश से नहीं। जब शब्दोत्पादक भाषावर्गणाएं स्पर्श गुण से युक्त हैं, तो शब्द

भी कारण गुण कार्य में आते हैं, इस न्याय के अनुसार स्पर्श गुण से युक्त है। यदि यह स्पर्श गुण से युक्त नहीं होता, तो जिस प्रकार अनुकूल वायु के द्वारा दूर खड़े हुए मनुष्य के पास गंध के परमाणु पहुंच जाते हैं; उसी प्रकार यह शब्द भी अनुकूल[1] वायु के द्वारा जो श्रोता के पास पहुंच जाता है, वह नहीं पहुंचना चाहिये—और न प्रतिकूल वायु के होने पर गंध की तरह पास में भी बैठे हुए श्रोता तक जो नहीं पहुंचता है, सो भी पहुंच जाना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः वायु द्वारा प्रतिघात होने से शब्द में स्पर्शगुण[2] की सत्ता सिद्ध होती है। दूसरे में—गंध द्रव्य भी अत्यन्त सघन प्रदेश में प्रवेश करते और निकलते हुये नहीं रुकता है, फिर भी यह जैसे पौद्गलिक तुम्हारी मान्यतानुसार है, उसी प्रकार शब्द को भी पौद्गलिक मानना चाहिये। यदि कहो, कि कस्तूरी आदि गन्ध द्रव्य को किसी सन्दूक में बन्द करके रखने पर, गन्ध का बाहर आना जाना रुक भी जाता है, तो इसी प्रकार से अत्यन्त सघन प्रदेश में बन्द होने से शब्द, का भी बाहर आना जाना रुक[3] जाता है। दूसरे यदि मान लिया जाय कि वह रुकता नहीं है,

---

(१) "प्रतिवातभित्यादिभिः शब्दस्याभिहन्यमानतया सकलजन-साक्षिकत्वात्" प्रमेय क. मा. पा, १६४.

(२) "कर्णशष्कुल्यां कटकटायमानस्य प्रायशः प्रतिघातहेतोर्भवना-द्युपघातिनः शब्दस्य प्रसिद्धिरस्पर्शत्वकल्पनामस्तंगमयति" (अष्टशती पृष्ठ १०८ अष्टसहस्री.)

३—मुंह पर लगाकर लोटे मे बोलने से शब्द उसमे भर जाता है।

तो इसका कारण उसका सूक्ष्म[1] परिणमन है, न कि आकाश का गुण होना। यदि पुद्गल का यह स्वभाव तुम्हारी मान्यतानुसार मान लिया जाय कि पुद्गल का भीतर बाहर आना जाना ही नहीं होता, जैसे पत्थर का भींत के भीतर आना जाना नहीं होता, सो यह मान्यता एकान्त रूप से अंगीकार नहीं की जा सकती है। हां, जिन पुद्गलों का स्थूल रूपसे परिणमन होता है, उनकी दूसरे पदार्थों में भीतर आने जाने में अवश्य रुकावट होती है परन्तु जिनका सूक्ष्मपरिणमन हुआ करता है, उनमें इस प्रकार की रुकावट नहीं होती। देखो जल तथा तैलादिक पदार्थ में यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है। पानी के भीतर जब घड़े को अतराया जाता है, तब उसके अन्दर का भाग पसीजने लग जाता है, इसी प्रकार तैल जब हम किसी बर्तन में रखते हैं तो वह भी बाहर अपनी चिकनाई से उस घड़े को चिकना कर देता है। तीसरे में विद्युत् एवं उल्कापात के अवयव भी तो उनके पहिले और बाद में नहीं पाये जाते, फिर भी इन्हें पौद्गलिक माना गया है। तथा भाषावर्गणाओं से शब्द तभी बनते हैं, जब उनमें कंठ ओष्ठ आदि निमित्तों द्वारा शब्द रूप परिणमन कराया जाता है और तभी वे कर्ण इन्द्रिय के विषय होते हैं। यह परिणमन रूप स्वभाव उनमें उन निमित्तों के मिलने के पहिले और उनके मिलने के बाद नहीं व्यक्त रहता है। अतः पूर्व और पश्चात्[1] उनकी उपलब्धि

१—"निश्छिद्र निर्गमनादयः सूक्ष्मस्वभावत्वात् स्नेहादिस्पर्शादिवन्न विरुध्येरन्।" अष्टशती—अष्टसहस्री पृ० १०८

नहीं होती है। चौथे में गन्ध के परमाणु भी सूक्ष्म मूर्त द्रव्य धूमादिकों के प्रेरक नहीं होते हैं, फिर भी पुद्गल में माने गये हैं। पांचवें में—रूपादिक की तरह यह इन्द्रिय कर्णका विषय होता है, अतः उसे अमूर्त आकाश का गुण कैसे माना जा सकता है? जो आकाश के गुण हैं, वे इन्द्रियों के विषय नहीं होते हैं। इस प्रकार वैशेषिकों द्वारा शब्द में पौद्गलिक निरसन के लिये दिये गये पूर्वोक्त ५ हेतु युक्तियुक्त नहीं हैं।

शंका—शब्द को पौद्गलिक मानने पर उसका चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होना चाहिये। क्योंकि जो पौद्गलिक होते हैं, उनका चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ग्रहण प्रत्यक्ष में देखने में आता है, जैसे पुस्तक आदि में।

उत्तर—यह कोई नियम नहीं है, कि जो पौद्गलिक होते हैं उनका चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होता ही है। यदि इस प्रकार की मान्यता एकान्त रूप से स्वीकृत की जाय तो गन्ध का भी पौद्गलिक होने से, चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होना चाहिये। यदि इस पर यह समाधान किया जाय कि गंध परमाणुओं का जो चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता है उसका कारण, उनमें अदृश्यता देखने में नहीं आ सकना है। तो फिर यही उत्तर शब्द को चक्षु

१—"यत्नज नितवर्णाद्यात्मा श्रावणमध्यस्वभावः प्राक् पश्चादपि पुद्गलानां नास्ति इति तावानेव ध्वनिपरिणामः।"

अष्टशती अष्टसहस्री पृ० १०८

इन्द्रिय द्वारा नहीं ग्रहण कर सकने में हमारा भी है। शायद इस पर यदि यों कहा जाय कि चाक्षुष प्रत्यक्ष होने में उद्भूत रूप कारण होता है, गन्ध के परमाणुओं में उद्भूत रूप नहीं होने से उनका नेत्रों से ग्रहण नहीं हो सकता है, तो ठीक यही समाधान शब्द के भी चाक्षुष प्रत्यक्ष न होने में है।

शंका—जिस प्रकार पौद्गलिक कंकण पत्थरों का आपस में प्रतिघात टकराना वगैरह होता है इसी प्रकार शब्दों का भी अन्य मूर्त पौद्गलिक द्रव्य से परस्पर में प्रतिघात होना चाहिये ?

उत्तर—यह तो पहिले ही स्पष्ट किया जा चुका है, कि शब्दों में प्रतिघात होता है। रेडियो में हमें इस बात का प्रत्यक्ष सबूत मिलता है। आंधी और तूफान के समय में शब्दों का प्रतिघात होना प्रसिद्ध ही है।

शंका—जिस प्रकार कान में अधिक रेत आदि पौद्गलिक द्रव्य के पड़ने से वह एक प्रकार से भरा हुआ प्रतीत होता है इसी प्रकार शब्द वर्गणाओं के कान में जाने पर उनसे भी उसे भरा हुआ मालूम देना चाहिये। परन्तु ऐसा तो अनुभव में नहीं आता है।

उत्तर—यह बात भी पहिले स्पष्ट की जा चुकी है कि शब्द परमाणुओं का परिणमन गन्ध परमाणुओं ~~का परिणमन गन्ध परमाणुओं की तरह अत्यन्त सूक्ष्म है अतः जिस प्रकार गन्ध~~

की तरह अत्यन्त सूक्ष्म है। अतः जिस प्रकार गन्ध परमाणुओं द्वारा नाक के छेदों का भर जाना नहीं होता है, उसी प्रकार शब्द परमाणुओं द्वारा भी कान का भर जाना नहीं होता है।

शंका—जिस प्रकार सुवर्ण आदि पौद्गलिक द्रव्य किसी गुप्त स्थान में रक्खे जाने पर, दूसरे व्यक्तियों को स्पष्ट प्रतीत नहीं होते, उसी प्रकार उच्चरित शब्द भी श्रोता के कान में पूर्णरूप से प्रवेश कर जाने पर, पास में बैठे हुए अथवा उससे कुछ दूर पर भी रहे हुए अन्य श्रोताजनों को सुनने में नहीं आना चाहिये। परन्तु आता तो है। इससे प्रतीत होता है कि वह पौद्गलिक नहीं है।

उत्तर—शब्द परमाणुओं में सदृश परिणमन होता है और इससे वे अनेक दिशाओं में गन्ध के परमाणुओं की तरह फैल जाते हैं। अतः जिस प्रकार गंध के निकलने पर एक ही साथ अनेक घ्राताजन उसे सूंघते हैं; उसी प्रकार शब्द को भी उच्चरित होने पर आस पास के समस्त व्यक्ति सुनते हैं[1]।

किंच—घ्राण और कर्ण इन्द्रियों में अपने २ विषय द्वारा उपघात एवं अनुग्रह भी देखा जाता है। इससे भी यही बात सुयुक्तिक ज्ञात होती है, कि इन इन्द्रियों के विषय ही इनके पास[2]

---

(१) "पुद्गलस्वभावत्वे दर्शन-विस्तार-विक्षेप-प्रतिघात-कर्ण-पूरणैकश्रोत्रप्रवेशाद्युपालम्भो गंध-परमाणुकृतप्रतिविधानतयोपेक्षा-मर्हति" अष्टशती-अ०स०पृ०-१०८।

२-गिण्हंति पत्तमत्थं, उवघायाणुग्गहोवलद्धीओ।
बहिरा-पूइ-नासारिसादओकहमसंबद्धे॥ (विशेषावश्यक भाष्य गा. २०८)

आते हैं। अन्यथा भेरी आदिकों के महा भयंकर शब्दों के कान में प्रविष्ट होने पर, जो उनके द्वारा कानों में "बहिरापन" आ जाता है–कान की झिल्ली फट जाती है–कान में अनेक प्रकार के उपद्रव खड़े हो जाते हैं, तथा कोमल मधुर शब्द सुनने पर जो एक प्रकार का रस कानों में अनुभवित होता है, इत्यादि रूप उपघात और अनुग्रह वहां कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार दुर्गन्ध के परमाणुओं द्वारा, नासिका में अधिक रूप में प्रविष्ट होने पर जो पूतिरोग[2], अर्शव्याधि आदि रूप उपघात हो जाता है, और कपूर आदि की सुगन्ध से उसे जो एक प्रकार का आनन्द मिलता है, यह सब घ्राण इन्द्रिय में भी विषयजन्य उपघात और अनुग्रह कैसे हो सकता है–अतः यह मानना चाहिये कि घ्राण और कर्ण इन्द्रिय प्राप्त हुए पदार्थ को प्रकट करनेवाली हैं। विषय की अप्राप्ति अवस्था में यह हो नहीं सकता है।

शंका—चक्षु में भी तो इस तरह से बाह्य द्रव्य के संबन्ध से उपघात और अनुग्रह देखने में आता है। अधिक देर तक सूर्य के देखने से नेत्रों में चकाचौंधी छा जाती है, चिलकती हुई चीज के देखने से नेत्रों से पानी झरने लगता है। इसी तरह हरी वनस्पति आदि के देखने से उसमें शीतलता आदि का भी अनुभव होता है। यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है कि किसी दूसरे

१–"सुप्रतीतोहि कंसपाश्यादिध्वानाभिसंबंधेन श्रोत्राद्य भिघातस्तत्कार्यस्य बाधिर्यादेः प्रतीतेः स चास्याऽस्पर्शवत्त्वे न स्यात्" प्र. मा. (पृ० १६४/१)
२–"नासार्शान्सि" (विशेषा० भा० पृ० १२४)

क्योंकि की दुःखती हुई आंखों के देखने से देखनेवालों की आंखों में पानी भर आता है।

उत्तर—हम यह तो निषेध करते नहीं हैं, कि चक्षु में दूसरे पदार्थों द्वारा उपघातादिक नहीं होते हैं। देखने वाला व्यक्ति नेत्र द्वारा जब सूर्य और स्वाभावतः शीतल चन्द्रमा आदि पदार्थों का बहुत देर तक अवलोकन करता रहता है, तो यह स्वाभाविक बात है कि उस चिरकाल तक के निरीक्षण के संबन्ध से, स्पर्शन इन्द्रिय की तरह नेत्र इन्द्रिय में भी जलन और शीतलता जैसी अनुभवित होती है। इससे यह बात तो सिद्ध नहीं होती कि चक्षु पदार्थ को प्राप्त कर उसका प्रकाशक होता है। हम तो केवल इतना ही कहते हैं कि जिस तरह अन्य इन्द्रियां पदार्थों से भिडकर, अपने २ विषयभूत पदार्थों का प्रकाशन करती हैं, उस तरह चक्षु इन्द्रिय पदार्थों से भिडकर या पदार्थों के स्थान तक जाकर उन्हें प्रकाशित नहीं करती और न पदार्थ ही चक्षु-स्थान तक आकर उसके द्वारा जनाया जाता है। मात्र पदार्थ के रूप को जनाते समय, उस द्वारा चक्षुरिन्द्रिय में किसी भी प्रकार का उपघात अनुग्रह नहीं होता है। द्रष्टा जब अधिक देर तक पदार्थों का अवलोकन करता रहता है, तभी यह होता है, मात्र देखने पर नहीं। अतः उपघातक द्रव्यों द्वारा उपघात के और अनुग्राहक द्रव्यों द्वारा अनुग्रह के होने के हम चक्षु में निषेधक नहीं हैं।

शंका—जिस प्रकार सूर्य की किरणें अग्नि आदि पदार्थों को प्राप्त कर प्रकाशित करती हैं, उसी प्रकार चक्षु[1] इन्द्रिय से रश्मियां (किरणें) निकल कर पदार्थों को भिडकर प्रकाशित करती हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं, और स्वयं तैजसरूप होती हैं। इसलिये जिस प्रकार सूर्य की रश्मियों का अग्नि आदि द्वारा संबन्धित होने पर भी दाह आदि नहीं हो। है। अतः इस प्रकार से प्राप्त अर्थ प्रकाशकता चक्षु में सिद्ध होती है।

उत्तर—चक्षु इन्द्रिय में स्वतंत्र कोई तैजस रश्मियां हैं, और वे उस इन्द्रिय से निकल पदार्थ से भिडकर, उसका प्रकाशन करती हैं—यह सब एक कल्पना मात्र ही है। इसमें प्रमाण[2] कुछ भी नहीं हैं। अतः चक्षु इन्द्रिय अप्राप्त अर्थ का ही प्रकाशन करती है, यह युक्तियुक्त बात अवश्य २ स्वीकृत करनी चाहिये।

यदि च—चक्षु प्राप्त अर्थ का प्रकाशन करती है यही बात मानी जावे, तो फिर अपने में लगे हुए अञ्जनादिक का प्रकाशन भी उसी के द्वारा स्पष्ट[3] रूप से हो जाना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है।

१–'चक्षुस्तैजसं रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्' ('मुक्तावली') नैयायिकों ने इस मान्यतानुसार चक्षु को तैजस द्रव्य माना है। (प्रमेयकमा॰पृष्ठ ६०)

२–यह विषय प्रमेय क॰ मा॰ पृ॰ ६० से लेकर ६२ तक अच्छी तरह से चर्चित हुआ है। यहां विस्तार से नहीं लिखा है।

३–'तथा चाञ्जनादेः प्रत्यक्षत एव प्रसिद्धेः परोपदेशस्य दर्पणादेश्च-तदर्थस्योपादानमनर्थकमेवस्यात्' (प्रमेयकमल मा.पृ. ६०) शेष पृष्ठ आगे देखिए

शंका—यदि चक्षु इन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानकर पदार्थ को प्रकाशित करने वाली भी मानी जावे, तो इसमें तो यह एक बड़ी भारी आपत्ति आवेगी, कि वह जिस समय अप्राप्त होकर घट को प्रकाशित करेगी—उसी समय उसके द्वारा पट का भी प्रकाशन हो जायगा। इस प्रकार नियम के अभाव में एक ही साथ विवक्षित अविवक्षित समस्त पदार्थ का प्रकाशन उसके द्वारा होने से, किसी का भी निश्चय नहीं हो सकेगा। परन्तु ऐसा तो होता नहीं है। जिस पदार्थ को हमारी चक्षु इन्द्रिय प्राप्त होकर बताती है, उसे ही हम जानते हैं—अन्य को नहीं; कारण कि उसे उसने प्राप्त होकर प्रकाशित नहीं किया।

उत्तर—यह मान्यता ठीक नहीं, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय में इतनी योग्यता नहीं है, कि वह एक ही साथ समस्त पदार्थों का प्रकाशन कर सके। क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्ष में इतनी ही योग्यता है, कि वह [1]सम्बद्ध और वर्तमान अपने योग्य प्रतिनियत पदार्थों को ही जानता है, अन्य को नहीं। कारण कि ऐसी उसमें शक्ति नहीं है, इसका भी कारण यही है, कि उसके प्रतिबन्धक-रोधक ज्ञानावरणीयादि कर्मों का सद्भाव है। अतः चक्षु इन्द्रिय अप्राप्त अर्थ की प्रकाशक है, ऐसी मान्यता ही युक्तियुक्त है।

'जइपत्तं गेण्हेज्जउ, तग्गयमंजणरजोमलाईयं। पेच्छेज्ज जं न पासइ, अपत्तकारितओ चक्खु'' (विशेषावश्यक भाष्य पृ० १२७)

१—'संबद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना'।

मन में अप्राप्यकारिता की सिद्धि–

जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी सिद्ध की जा चुकी है, इसी प्रकार मन भी अप्राप्यकारी है। चक्षु इन्द्रिय में जिस प्रकार पदार्थ कृत उपघात और अनुग्रह नहीं होते हैं, उसी प्रकार मन में भी पदार्थकृत उपघात और अनुग्रह सिद्ध नहीं होते हैं। जैन दर्शनकारों ने द्रव्यमन और भावमन के भेद से मन के दो भेद माने हैं। भाव-मन जीव स्वरूप होने से उसका देह से बाहर निकलना होता ही नहीं है। इसका काम विचार आदि करना है। अतः विचार आदि करना रूप ही भाव मन है। द्रव्यमन अचेतन हैं। क्योंकि यह मनोवर्गणाओं से निष्पन्न होता है। मनो वर्गणा स्वयं अचेतन है। अतः दोनों प्रकार में प्राप्त अर्थ प्रकाशकता नहीं घटित होती है।

शंका—भाव मन जीवस्वरूप होने से चाहे देह के बाहर नहीं निकले। हमें इसमें कुछ भी आक्षेप नहीं है। परन्तु द्रव्य मनके निकलने में तो कोई भी आपत्ति नहीं है। यह ठीक है कि उसका काम स्वयं विचारने का नहीं है, यह तो भाव मन का है। परन्तु जिस प्रकार प्रदीपादिक पदार्थों को निमित्त कर हम घट पटादिक पदार्थों को जानते हैं, उसी प्रकार द्रव्य मन की सहायता से जीव पदार्थों को जानता है। निष्कर्ष कहने का यह है–जिस प्रकार प्रदीपादिक की प्रभा से संबंधित पदार्थों को जीव जानता है–उसी प्रकार द्रव्य मन भी देह से बाहर निकल कर

ज्ञेय पदार्थों से सम्बन्ध करता है, पश्चात् जीव उससे सम्बन्धित हुए पदार्थ को जानता है। अतः इस प्रकार की ज्ञप्ति में द्रव्य मन में करणता आने से प्राप्यकारिता[1] सिद्ध होती है। लोक में भी यही बात चरितार्थ होती है, कि "अमुत्र मे मनोगतं" अमुक जगह मेरा मन गया।

उत्तर—इस कथन से द्रव्य मन में प्राप्यकारिता सिद्ध नहीं होती है। यह तो हम भी स्वीकार करते हैं, कि पदार्थों को जानने में जीव के लिये द्रव्यमन सहायक होता है। इसकी सहायता के बिना पदार्थों का ज्ञान, हम तुमको नहीं हो सकता है। इससे यह बात कैसे सिद्ध हुई कि वह प्राप्यकारी है। करण दो प्रकार के हैं—एक अन्तःकरण और दूसरा बाह्यकरण। आत्मा को पदार्थों के जानने में इन्द्रिय और मन आभ्यन्तर—अन्तः करण है। प्रदीप आदि पदार्थ बाह्य करण हैं। बाह्यकरणों की समता अन्तःकरण में नहीं हो सकती है। बाह्य करण आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं। आत्मा उनकी सहायता से घट पट आदि पदार्थों को जानती है। तब कि मन ऐसा नहीं है, वह तो शरीर के भीतर रहा हुआ है। अतः शरीर के भीतर रहे हुये ही इसकी सहायता से आत्मा—हम तुम सब पदार्थों को जानते हैं। जिस प्रकार अन्तःकरण स्पर्शनादि इन्द्रियां हैं आत्मा शरीर के भीतर रही हुई इनकी सहायता से ही पदार्थों को जानती हैं। अतः यह

१—'बहिर्निर्गतेन द्रव्यमनसा प्राप्तविषयं जानाति' जीवः करणत्वात् प्रदीपप्रभयेव' (वि. आ. पा. १३०)

कहना कि जिस प्रकार प्रदीपादिकों की सहायता लेकर पदार्थों को जीव जानता है उसी प्रकार मन की सहायता लेकर जीव पदार्थों को जानता है, अतः उसमें करणता आने से द्रव्य मनमें प्राप्य-कारिता सिद्ध होती है। यह कोई प्राप्यकारिता की सिद्धि कराने में महत्व की बात नहीं है। इससे तो यही सिद्ध होता है, कि जिस प्रकार पदार्थों के प्रकाश करने में प्रदीपादिकों में करणता—सहा-यकता आती है, उसी प्रकार घट पटादिक पदार्थों को प्रकट कराने में मन-द्रव्य मन में भी करणता आती है। जो हमें अभीष्ट ही है। "मनसा अहं जानामि" में आत्मा मन से पदार्थों को जानता हूँ।

शंका—आपने जो अभी ऐसा कहा कि, चक्षु इन्द्रिय की तरह मन में ज्ञेय पदार्थों द्वारा विषय होते समय उपघात और अनुग्रह नहीं होते, सो यह बात प्रत्यक्ष का अपलाप करने जैसी है, ठीक प्रतीत नहीं होती। चक्षु में ज्ञेयकृत उपघात और अनु-ग्रह न हो उसमें हमें कोई विवाद नहीं, परन्तु मन में इन्हें नहीं मानना यह एक आश्चर्य जैसी बात है। वह तो अनुभव में आता है, कि जब इष्ट पदार्थ का वियोग होता है, उस समय मन में उन पदार्थों के उपकारादिक के विचार से एक प्रकार की बेचैनी बढ़ती है; इसी का नाम मन का उपघात है और यह उसमें बाह्य पदार्थों द्वारा होता हुआ प्रतीत होता है। मन में इस बेचैनी के अनुमापक उसके चिन्ह स्वरूप देहाश्रित कृशता आदि हैं। इसी प्रकार इष्ट पदार्थों के संयोग से मन में एक प्रकार का

आनन्दातिरेक होता है। यह आनन्दातिरेक ही मन का बाह्य-पदार्थ कृत अनुग्रह है। मन में आनन्दातिरेक है, यह बात भी उस समय में मुख पर छायी हुई प्रसन्नता आदि से लक्षित हो जाती है, अतः "मन में बाह्य पदार्थों द्वारा उपघात और अनुग्रह होता है" यह बात प्रसिद्ध ही है, फिर आप इसका अपलाप कैसे करते हैं।

उत्तर—यदि बाह्य पदार्थों द्वारा द्रव्य मन में उपघात और अनुग्रह होते हुए प्रसिद्ध होते और हम उन्हें न मानते, तो यह कहना शोभित होता कि "आप इसका अपलाप कैसे करते हैं" परन्तु इन दोनों की तो वहां गंध[1] तक भी नहीं पहुंचती है। जो तुमने पूर्वोक्त रीति से मनमें उपघात और अनुग्रह होने की बात कही, वह मनमें न होकर उल्टी उसके द्वारा आत्मा में ही प्रसिद्ध होती है। यथा—हृदय देश में निरुद्ध वायु जैसे देह में दौर्बल्य आदि लक्षणों को उत्पन्न करती हुई जीवों को कष्टकारक होती है, और दवा आदि जैसे ज्वरादिक का उपशमन करती हुई जीवों में प्रसन्नता की हेतु होती है। इसी प्रकार द्रव्य मन से परिणत जो इष्ट और अनिष्ट पुद्गल हैं वे पदार्थों को इष्ट और अनिष्ट रूप से विचार करने में, जीव के लिये निमित्त हो उसमें हर्ष और विषाद के कारण बनकर उसके अनुग्राहक और उप-घातक होते हैं। इसे यों भी समझ सकते हैं—जिस प्रकार वृद्ध

१—मनसः ज्ञेयात् तद्गंधस्याप्यभावात्" (विशेषा० भा० १३१ पृ०)

लकड़ी का सहारा पाकर चलता है—यदि लकड़ी उसे चलने में अच्छी तरह से सहायक होती है, तो वही उसके लिये आनन्द का कारण बन जाती है, और यदि वह चलने में ठीक २ मदद नहीं पहुंचाती है तो वही उसे कष्टकारक भी होजाती है। इसी प्रकार मन भी विचारक आत्मा को इष्ट रूप से पदार्थों के विचार करने में निमित्त रूप होकर जब मदद पहुँचाता है, तब वह आत्मा उस इष्ट रूप परिणत मन द्वारा विचार करने वाला होने से उस पदार्थ को इष्ट मानकर हर्षित होता है और अनिष्ट रूप परिणत मन द्वारा जब वह पदार्थों का विचार करता है, तब वह अनिष्ट रूप परिणत मन द्वारा विचार करने वाला होने से, उन पदार्थों को अनिष्ट कल्पित कर दुःखी होता है। अतः यह जीव को विचार करने में निमित्त-सहायक है, स्वयं विचारक नहीं। चिन्त्यमान विषय के विचार के उपघात या अनुग्रह जो कुछ भी होता है, वह इष्टानिष्ट विषय को विचार करने वाले आत्मा को ही होता है—द्रव्य मन को नहीं। क्योंकि वह अचेतन होने से अविचारक है। जैसे अचेतन इष्ट और अनिष्ट आहार के सेवन करने से प्राणियों के शरीर की पुष्टि और अपुष्टि प्रत्यक्ष में ज्ञात होती है, इसी प्रकार अचेतन-पौद्गलिक द्रव्य मन भी इष्ट और अनिष्ट का विचार करने वाले जीव के शरीर की हानि और पुष्टि का कारण होता है। कहने का तात्पर्य यह है—शंकाकार ने द्रव्य मन में बाह्य पदार्थों द्वारा उपघात और अनुग्रह होते हैं इस बात की पुष्टि यों की कि जब मन किसी इष्ट पदार्थ

का विचार करता है, तब उसमें एक प्रकार का हर्ष होता है-और जब किसी इष्ट के वियोग का स्मरण करता है, तो उससे उसे एक प्रकार की ठेस पहुँचती है। इन दोनों बातों की समर्थक देह में उस समय होने वाली कृशता और चेहरे की प्रफुल्लता आदि हैं। बाह्य पदार्थों का मन पर अच्छे बुरे रूप में असर पड़ता ही है, यही उसमें उन द्वारा उपघात और अनुग्रह है। इस पर उत्तरकार का यह कहना कि द्रव्य मनमें जो स्वयं अविचारक और अचेतन है, उस पर बाह्य पदार्थ के इष्टानिष्ट रूप के विचार का कुछ भी असर नहीं पड़ता। क्योंकि विचारक तो जीव है। जीव ही द्रव्यमन की सहायता से इष्टानिष्ट पदार्थों का विचार करता है। पदार्थ में इष्ट अनिष्ट यह मान्यता द्रव्य मन की सहायता से ही जीव में उद्भूत होती है। पदार्थ स्वयं न इष्ट है और न अनिष्ट। इष्ट पुद्गल परमाणुओं से रचित द्रव्य मन द्वारा जिन पदार्थों का आत्मा विचार करता है —वे उसे इष्ट रूप से और जिनका अनिष्ट पुद्गल परमाणुओं से परिणत मन द्वारा विचार करता है वे उसे अनिष्ट प्रतीत होते हैं। अतः जीव में इष्ट और अनिष्ट कल्पना का जनक होने से द्रव्य मन ही खाये हुए इष्ट और अनिष्ट अहार की तरह जीवाधिष्ठित देह में कृशता और प्रफुल्लता आदि का कारण होता है। विचारों का असर आत्मा में ही होता है। पुद्गल द्वारा जीवों के उपकारादिक के विषय में उमास्वामीजी का यह[1] सूत्र देखना चाहिये।

१-'सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च' (त०सू०अ०५)

अतः द्रव्यमन[1] से जीव में ही उपघात और अनुग्रह होते हैं, चिन्त्यमान विषय से मन में नहीं। फिर भी ये मन में होते हैं ऐसी मान्यता[2] का कारण मन की जीव से कथञ्चित् अभिन्नता है।

शंका—द्रव्यमन पौद्गलिक है इसमें क्या प्रमाण ?

उत्तर—द्रव्य मन पौद्गलिक है—इसमें अनुमान प्रमाण है। अनुमान प्रमाण से हम यह जानते हैं कि द्रव्य मन पौद्गलिक है। जैसे "अग्नि" के स्पर्श से हुआ फोड़ा अग्नि की दाहात्मक शक्ति का अनुमापक होता है, उसी प्रकार इष्ट और अनिष्ट वस्तु के चिन्तवन करने पर होने वाली वदन की प्रसन्नता और देह की दुर्बलता आदि रूप अनुग्रह और उपघात द्रव्य मन में पौद्गलिकत्व की सिद्धि करते हैं। द्रव्य मन यदि पौद्गलिक न होता, तो जिस प्रकार अपौद्गलिक आकाश आदि से उपघात आदि नहीं हो सकते हैं—उसी प्रकार संज्ञी प्राणियों को भी इष्टानिष्ट वस्तु के विचार करने पर जो वदन में प्रसन्नता और देह की दुर्बलता आदि रूप अनुग्रह और उपघात प्रतीत होते हैं, वे नहीं होने चाहिये। परन्तु होते तो हैं, इससे यह अनुमित होता

१—'शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानां' (त०सू०अ० ५)

२—'स जोवस्य भवन्नपि चिन्त्यमानविषयात् मनसः किल परो मन्यते तस्य जोवात् कथंचिदव्यतिरिक्तत्वात्' (विशेषा० भा० पृ० १३१)

३—'यदन्तरेण यन्नोपपद्यते तद् दर्शनात् तदस्तीति अनुमीयते' (विशेषावश्यक भाष्य० पृ० १३२)

है कि द्रव्य मन पौद्गलिक है। अनुग्रह और उपघात आदि रूप कार्य बिना द्रव्य मन में पौद्गलिकता हुए कथमपि सुघटित नहीं हो सकते हैं।

शंका—द्रव्य मन के निमित्त से उपघात और अनुग्रह रूप कार्य जीवों के होते हैं, इसलिये द्रव्य मन पौद्गलिक है, यह भी एक विलक्षण बात है—क्योंकि ये कार्य तो विचारित विषय से ही जीवों में देखने में आते हैं।

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। यदि चिन्तनीय विषयों से उपघात और अनुग्रह आदि कार्य माने जावें, तो फिर इसी तरह जल अग्नि और भोजन आदि का विचार करने पर भी क्लेद, दाह और बुभुक्षा की तृप्ति हो जानी चाहिये। परन्तु होती नहीं है—इससे ज्ञात होता है कि विचारित पदार्थों द्वारा उपघात और अनुग्रह कुछ भी नहीं होते हैं। इन पदार्थों के विचारने में निमित्त रूप हुए मनसे ही ऐसा होता है।

शंका—यह कहना कि इनकी तरह क्लेदादिक हो जाने चाहिये, सो ऐसा कहना तो उस समय शोभास्पद माना जा सकता था, कि जब हम उपघातादिक का कारण पदार्थों को मानते, किन्तु हमारा तो यह कहना है कि पदार्थों का जो इष्टानिष्टा-त्मक विचार—ज्ञान है, उससे ही उपघात और अनुग्रह होते हैं। अतः ज्ञानकृत उपघात और अनुग्रह मानने से यह क्लेद दाह आदि कुछ भी नहीं हो सकते हैं?

उत्तर—ज्ञान, उपघात और अनुग्रह का कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप होने से अमूर्तिक है। अमूर्तिक पदार्थ आकाश की तरह उपघातादिक कार्यों का कारण नहीं हो सकता है। व्यवहार में जो यह कहा जाता है, कि 'चिन्तया जातं वत्स ते शरीरं कृशं" हे बच्चे! चिन्ता से तेरा शरीर कृश हो गया है—सो केवल औपचारिक ही कथन है—वास्तविक नहीं। क्योंकि चिन्ता भी तो एक प्रकार का ज्ञान विशेष ही है। इससे उपघातादिक नहीं होते हैं। फिर भी जो ऐसा कहा जाता है- उसका कारण कार्य में कारण शक्ति का अध्यारोप है। क्योंकि चिंता-विचार विशेष का निमित्त कारण आत्मा के लिये इष्टानिष्ट पुद्गल रूप से परिणत मन ही है। अतः वह चिन्ता द्रव्यमन रूप ही है। इससे यही सिद्ध होता है।

प्रश्न—जाग्रत अवस्था में मन का सम्बन्ध पदार्थों के साथ यदि नहीं होता है तो कोई आक्षेप जैसी बात नहीं हैं। परन्तु यह तो अनुभव सिद्ध बात है कि स्वप्न में मन बाहिरी पदार्थों से सम्बन्ध करता है। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर जो इस तरह की स्वप्न में अनुभूति जीवों को होती है, कि "अमुत्र मेरुशिखरादिगतजिनायतनादौ मदीयं मनोगतं" मेरा मन सुमेरु पर्वत के शिखरस्थित जिनालय आदि में चला गया, सो नहीं होनी चाहिये। स्वप्न में प्रत्येक प्राणी को यह अनुभव में आता है कि मेरा मन अमुक् जगह अमुक् पदार्थ से संलग्न हो गया। जैसा हमें जाग्रत अवस्था में उस पदार्थ का भान होता है, ठीक

इसी तरह से स्वप्न में भी उस पदार्थ का ज्यों का त्यों भान होता है ।

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है । कारण कि इस तरह की प्रतीति का कारण भ्रम है । जैसे स्वप्न में खाये गये लड्डू सत्य नहीं होते, क्योंकि उनके भक्षण से जगने पर भक्षक के तृप्ति आदि कुछ भी ज्ञात नहीं होती । अथवा जैसे शिर पर अग्नि लगाकर लकडी को चक्राकार घुमाने से वह अग्नि भ्रम से चक्राकार प्रतीत होती है, वास्तव में वह चक्राकार नहीं है, क्योंकि जब घुमाना बन्द कर दिया जाता है, तब वह अचक्राकार रूप अपने स्वरूप में ही मालूम पड़ती है । ठीक इसी तरह से स्वप्न में उपलब्ध पदार्थ जिस रूप में प्रतीत होते हैं वे उस रूप में नहीं हैं; क्योंकि जगने पर इनका वह रूप प्रतीति में नहीं आता । जैसे कोई २ प्राणी अपने आपको स्वप्न में उडते हुए भी देखते हैं तो क्या यह उनका देखना सत्य है ? नहीं, क्योंकि जिस समय वे अपने को स्वप्न में उडता देख रहे हैं-उसी समय उनके पास में रहे हुए व्यक्ति उन्हें वहीं पर सोया हुआ ही देख रहे हैं । अतः स्वप्न में जो कुछ भी प्रतीति होती है वह जाग्रत अवस्था में उत्कटता में अनुभूत पदार्थों के प्रबल संस्कार की जागृति से होती है । जाग्रत अवस्था में मनुष्य जिन संस्कारों से ओतप्रोत होकर प्रबल भावना से जो २ कार्य करता है-जिन २ बातों की छाप उसकी आत्मा पर जम जाती है, वे ही दृश्य उसे सिनेमा की तरह स्वप्नावस्था में प्रतीत होते हैं ।

वे दृश्य वास्तविक इसलिये नहीं हैं कि उनसे जो कुछ फल होना चाहिये, वह जाग्रत अवस्था में प्रतीत नहीं होता। जब हम स्वप्न में शराब का आसेवन करते हुए अपने आपको देखते हैं-तो जगने पर उसका नशा हमें प्रतीत नहीं होता। जब हम स्वप्न में अपने आपका शिर कटा हुआ देखते हैं, तो क्या जगने पर हमारा हमें शिर कटा हुआ प्रतीत होता है ? हां, स्वप्नो-पलब्ध पदार्थ से यदि तृप्ति आदि कार्य अनुभवित होते, तो स्वप्नोपलब्ध पदार्थ सत्यार्थ माना जाता। परन्तु ऐसा नहीं होता इसलिये वह पदार्थ असत्यार्थ है - भ्रम से ही उसकी प्रतीति उस समय होती है।

शंका—यदि स्वप्नोपलब्ध पदार्थ असत्यार्थ माना जावे-तो फिर स्वप्नोपलब्ध कामिनी आदि के प्रसंग से जो वीर्य का स्खलन होता है वह क्यों होता है। इससे यह प्रतीति होती है कि स्वप्नोपलब्ध पदार्थ से भी क्रिया का फल प्रदर्शित होता है ।

उत्तर—यह सब अपनी ही तीव्र कामुक भावना का फल है। जिस प्रकार कोई कामी किसी कामिनी का जाग्रत अवस्था में तन्मय होकर स्मरण करता है, उसका ध्यान करता है और मैं उसका सेवन कर रहा हूं इस प्रकार अपने आप को मानता है, ऐसी अवस्था में वह व्यक्ति उस कामिनी रूप पदार्थ के अभाव में भी, जिस प्रकार अपनी उत्कट कामुक भावना के बल से वीर्य की स्खलना से युक्त हो जाता है, उसी प्रकार स्वप्न में

भी वास्तविक कामिनी की प्राप्ति के अभाव में भी, तीव्र कामुकता की भावना से कल्पित कामिनी आदि के संगम से स्खलित वीर्य हो जाता है। यदि यह बात नहीं हो—तो फिर जगने पर सत्य कामिनी की तरह निकट में सोई हुई उस कामिनी की प्राप्ति होनी चाहिये और जिसके साथ काम सेवन किया गया है—उस स्त्री को भी उसका अनुभव हो जाना चाहिये; अथवा गर्भ रह जाना चाहिये या उसके द्वारा किये गये नखक्षत-दन्तप्रहार आदि की भी सेवन करने वाले पुरुष में उपलब्धि होनी चाहिये। परन्तु यह कुछ भी नहीं होता। अतः स्वप्नोपलब्ध पदार्थ असत्यार्थ है। यह मानना चाहिये।

शंका—यदि स्वप्नोपलब्ध पदार्थ असत्यार्थ है—तो फिर जाग्रत अवस्था की तरह उसके निरीक्षण से जो देखने वाले के हर्षादिक होते हैं—वे नहीं होने चाहिये।

उत्तर—उन पदार्थों की उपलब्धि से वे हर्षादिक नहीं होते हैं—किन्तु उन पदार्थों की उपलब्धि से होने वाले सुखादिकों का जो अनुभव रूप ज्ञान होता है—उससे वे हर्षादिक होते हैं—इनका हम निषेध नहीं करते। हम तो सिर्फ इसी बात का निषेध करते हैं कि उन पदार्थों की उपलब्धि से तृप्ति आदि क्रिया रूप फल प्राप्त नहीं होता है। स्वप्न विषयक विशेष विचार आवश्यक भाष्य में विस्तृत रूप से चर्चित हुआ है, अतः विशेष जिज्ञासुओं के लिए यह विषय वहां से देख लेना चाहिये।

इस प्रकार सन्निकर्ष को नेत्र और मनमें प्राप्यकारिता के अभाव से, तत्त्वज्ञान रूपसे स्वीकृत नहीं किया गया है। तत्त्वज्ञान ही प्रमाण माना गया है। सन्निकर्ष तत्त्वज्ञान रूप नहीं है। कारण कि सन्निकर्ष का यह लक्षण "इन्द्रियार्थसम्बन्धःसन्निकर्षः" निर्दोष नहीं है। इसमें अव्याप्ति नाम का दोष इस पूर्वोक्त कथित प्रकार से आता है। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव इन तीन दोषों से रहित ही लक्षण सुलक्षण माना गया है। जिस प्रकार रूपका ज्ञान संयुक्त समवाय सम्बन्ध से होता है। क्योंकि चक्षु संयुक्त घट में समवाय[1] संबंध रूप से ही रहता है। उसी प्रकार इसी संबंध से संबंधित होने से चक्षु द्वारा रस का भी परिज्ञान हो जाना चाहिये। इसमें कोई खास ऐसी बात नियामक नहीं है, कि जो चक्षु से रूप का ही इस सम्बन्ध से सम्बन्धित होने पर ग्रहण हो, और रस का न हो। क्योंकि जिस संबंध से पदार्थ में रूप रहता है, उसी सम्बन्ध से पदार्थ में रस भी रहता है—अतः यह सन्निकर्ष का लक्षण अतिव्याप्ति[2] दोष से भी दूषित है: इसलिये इसमें मुख्यरूप से प्रमाणता नहीं आ सकती है। उपचार से भले ही प्रमाणता इसमें रहे, इसका हम निषेध नहीं करते। मुख्य रूप से तो प्रमाणता प्रमिति क्रिया के प्रति करण होने से

१—"गुणगुणिनो. क्रियाक्रियावंतो. सामान्यतद्वतोश्च यः संबंधः सः समवायः" ऐसी मान्यता वैशेषिक सिद्धान्त की है।

२—'सन्निकर्षः प्रमाणमितिलक्षणे सति चक्षूरसयोः संयुक्तसमवायसन्निकर्षोऽस्ति परन्तु तत्र चक्षुषा रसप्रतिपत्तिर्नास्ति-तस्मात् प्रमित्यभावेऽपि लक्षणसद्भावादतिव्याप्तिरिति" प्रमेयरत्न मा० टिप्पणी पृ० १८८।

ज्ञान में ही आती है। सन्निकर्ष में साधकतम रूप से करणता नहीं है। अतः "कुठारेण काष्ठं छिनत्ति देवदत्तः" जिस प्रकार यहां पर छिदि (छेदनरूप) क्रिया के प्रति देवदत्त में साधनता आती है, उसी प्रकार "चक्षुषा अहं जानामि" इस प्रकार की प्रमिति क्रिया के प्रति चक्षु आदि इन्द्रियों में भी साधकता आती है. इस ख्याल से वह सन्निकर्ष गौण रूप से प्रमाण रहे, इसमें हमें कोई बाधा नहीं। यही सिद्धान्त[1] टीकाकार श्री विद्यानन्द स्वामी का है।

इसी प्रकार बौद्ध संमत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी प्रमाण कोटि में नहीं आता है। क्योंकि तत्त्वज्ञान ही प्रमाण कोटि में माना गया है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तत्त्वज्ञान नहीं है। स्व और पर पदार्थ का निश्चायक ज्ञान ही तत्त्वज्ञान होता है। निर्विकल्प में इस तत्त्वज्ञान के लक्षण का अभाव है। क्योंकि बौद्धों ने स्वयं इसे कल्पना रहित माना है। नाम जाति आदि का विकल्प उठना यह कल्पना है। इस प्रकार की कल्पना विकल्प में ही उठती है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में नहीं। जो कल्पनात्मक ज्ञान हैं, वे बौद्ध सिद्धान्त की अपेक्षा अप्रमाण हैं। प्रमाण एक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। इस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय केवल स्वलक्षण-विशेष है। क्योंकि इनके सिद्धान्तानुसार विशेष से भिन्न सामान्य कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। विशेष ही एक वस्तु है। और उसका

१—"सन्निकर्षादिरुपचारादन्यत्र प्रमाणत्वायोगात्" युक्त्यनुशासन टी॰ पृ॰ २
२—"यदेवार्थ क्रियाकारि तदेव परमार्थसत्"

ही ग्राहक प्रत्यक्ष है। यह प्रत्यक्ष कल्पना से रहित है। इस विषय की सिद्धि उसमें प्रत्यक्ष से ही होती है। यथा—

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं, प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां, विकल्पो नामसंश्रयः॥

वे यों कहते हैं कि जिस समय हम पांच अंगुलियों का ज्ञान करते हैं, उस समय पांच अंगुलियों रूप विशेष को छोड़कर अंगुलित्व सामान्य रूप भिन्न जाति मालूम नहीं होती है। इसी प्रकार गौ को जानते समय गौ के आकार आदि विशेषों को छोड़कर, गोत्व सामान्य का भिन्न ज्ञान नहीं होता। वस्तु का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है। यह अर्थक्रियाकारिता विशेष पदार्थ से ही होती है। सामान्य से नहीं। दूध की प्राप्ति गौ विशेष से ही होती है, गोत्व सामान्य से नहीं। अन्यथा मिट्टी की गाय से भी दूध मिल जाना चाहिये, क्योंकि उसमें भी गोत्व रूप सामान्य धर्म की सत्ता है। अतः यह सिद्धान्त निश्चत होता है कि विशेष मात्र ही पदार्थ है। सामान्य उससे भिन्न कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं। इस प्रकार की यह बौद्धों की मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि जितने भी ज्ञान होते हैं वे सब सविकल्पक होते हैं, निर्विकल्पक में प्रमाणता ही नहीं आती है। क्योंकि जो स्वयं अव्यवसायात्मक होगा, उससे व्यवसायात्मक रूप से पदार्थ का ज्ञान कैसे हो सकता है। अतः यह मानना पड़ता है कि स्व और पर का व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण है। अन्य नहीं। जब

निर्विकल्प ज्ञान में तत्त्वज्ञानता ही नहीं आती है, तब उसका विषय केवल विशेष है यह मान्यता भी ठीक नहीं है। क्योंकि पदार्थ का स्वरूप सामान्य और विशेष इन उभय स्वरूप है। इस विषय पर प्रमेय कमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थों में विशेष विचार किया गया है। यहां विशेष विस्तार हो जाने के भय से अधिक नहीं लिखा है। इसी प्रकार भट्ट लोगों ने ज्ञान को स्व प्रकाशक नहीं माना है। उनका सिद्धान्त यह है कि "ज्ञान अपने आपको जानता है" इस प्रकार के कथन में अपने आपको जानना यह एक ज्ञान की क्रिया है। क्रिया अपने आपमें नहीं होती है। कितना ही सुशिक्षित नट का बच्चा क्यों न हो, वह अपने कन्धे पर अपने आप चढ़ता नहीं देखा गया है। इसी प्रकार "स्वात्मनि क्रियाविरोधात्" इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान में भी क्रिया नहीं होती है। अतः उसे स्व का जानने वाला मानना एक काल्पनिक मान्यता है-वास्तविक नहीं। इस पर जैन दर्शनकारों का यह समाधान है कि क्रिया अनेक प्रकार की होती है। उनमें उत्पत्ति रूप क्रिया भले ही अपने आप ज्ञान में न हो, इसमें हमें कोई विवाद नहीं है। परन्तु अपने आपको जानने रूप क्रिया का विरोध ज्ञान में कहना उसकी मौलिकता का अभाव करना है। इस विषय में और भी लोगोंकी कई प्रकार की मान्यताएं हैं, परन्तु उनका यहां पर कथन विस्तार भय से नहीं किया जा रहा है। इस श्लोक में स्तुतिकार ने अनुमान के प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अंगोंका ही कथन किया है। जैसे-"वीरः स्तुतिः गोचरः

ऋद्धमानत्वात्" "वीरः ऋद्धमानः विशीर्णदोषाशयपाशबन्धत्वात्" "वीरः विशीर्णदोषाशयपाशबन्धः कीर्त्यामहत्या भुविवर्द्धमानत्वात्"। यहां पर हेतुहेतुमद्भाव से ऋद्धमानत्वादिक हेतुओं की सिद्धि स्तुतिकार ने की है। यद्यपि स्तुतिकार ने यहां इन समस्त प्रयोगों में "यत्र यत्र प्रवृद्धमानता तत्र तत्र स्तुतिगोचरता" इत्यादिक से अन्वय व्याप्ति के प्रकट करने में कोई अन्वयव्याप्ति प्रदर्शक दृष्टान्त प्रकट नहीं किया है फिर भी टीकाकार ने व्यतिरेक व्याप्ति प्रदर्शक दृष्टान्त का प्रयोग कर इस बात की पुष्टि की है, कि विपक्ष[1] में बाधक प्रमाण के मिलने से ही साध्य और साधन की व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। जिस प्रकार रथ्या पुरुष—गली कूचे में फिरने वाले पुरुष में स्तुति गोचरता आदि नहीं हैं, इसलिये उसमें ऋद्धमानता आदि भी नहीं हैं। इस प्रकार ऋद्धमानता से वीर में स्तुतिगोचरता, विशीर्ण दोषाशयपाशबन्ध से वहां ऋद्धमानता और कीर्त्यामहत्याभुवि वर्द्धमानता से, उनमें विशीर्णदोषाशयपाशबन्ध की सिद्धि, स्तुतिकार ने जानकर उन्हें अपनी स्तुति का पात्र बनाया है।

किं च—ये समस्त पूर्वोक्त हेतु केवल व्यतिरेकी हेतु हैं। केवलव्यतिरेकी हेतु से भी साध्य और साधन का अविनाभाव सम्बन्ध सिद्ध किया जाता है। यह एकान्त नियम नहीं है कि केवल अन्वयी अथवा अन्वयव्यतिरेकी हेतु ही साध्य साधन की व्याप्ति सिद्ध करते हैं। "सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्वात्"

१—"तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः" परीक्षा मुख सूत्र ३९ परि० ३।

यहां प्राणादिमत्व हेतु केवल व्यतिरेकी हेतु है। प्राणादिमत्व और सात्मकता की व्याप्ति इसी से प्रसिद्ध होती है। क्योंकि जहां, पर सात्मकता नहीं है, वहां प्राणादिमत्व भी नहीं है, जैसे-लोष्टादिक।

यथात्म्यमुल्लंघ्य गुणोदयाख्या;
लोकस्तुतिर्भूरिगुणोदधेस्ते !
अणिष्ठमप्यंशमशक्नुवन्तो;
वक्तुं जिन ! त्वां किमिव स्तुयाम ॥२॥

अन्वय—याथात्म्यं उल्लंघ्य गुणोदयाख्या लोके स्तुतिः। जिन भूरिगुणोदधेः ते अणिष्ठं अपि अंशं वक्तुं अशक्नुवंतः त्वां किमिव स्तुयाम।

अर्थ—यथार्थता का अतिक्रमण कर गुणों के उत्कर्ष का कथन करना लोक में स्तुति कहलाती है। परन्तु हे वीरजिन ! अनन्त गुणों के समुद्र स्वरूप आप के सूक्ष्म से सूक्ष्म भी अंश-गुणांश को कहने के लिये सर्वथा असमर्थ हुए हम आपकी स्तुति भी किस रूप से कर सकते हैं।

भावार्थ—चौरासी लाख गुणों में से किसी एक गुण को बढ़ा चढ़ा करके कहने का नाम स्तुति है। अथवा जिसमें जो गुण न हो, उस गुण को वहां कल्पित करके अतिशयोक्ति से विशिष्ट बनाकर कहना यह भी स्तुति है। परन्तु हे नाथ ! आप तो

अनंत गुणों के धनी-समुद्र हैं। उनमें से हम आपके जब एक भी गुणांश का पूरी तौर से यथार्थ वर्णन नहीं कर सकते हैं, तो फिर हम आपकी स्तुति कर जो स्तोता बनना चाहते हैं, सो बात कुछ समझ में नहीं आती। "किमिव" इस पद से स्तुतिकार यह प्रकट कर रहे हैं कि हमें कोई ऐसा यहां उपमान भी नजर नहीं आ रहा है, कि जिसे लक्ष्य में देकर हम उसके सहारे भी आपकी स्तुति करें। आप्तमीमांसा में आप्त कौन हो सकता है इसका अन्ययोग व्यवच्छेद से भली भांति वहां विवेचन किया जा चुका हैं। अतः आप जैसे आप ही हैं। तब हमें शास्त्र में इतर तीर्थिकों में वीतरागत्व, सर्वज्ञत्व और हितोपदेशकत्व युक्त्यागम से अविरोधि वचनता का अभाव होने से आपका उपमान प्रतीत ही नहीं हो रहा है। इसलिये भी हम बड़ी असमंजसता में हैं कि हम आपकी यथार्थ स्तुति कैसे कर सकते हैं।

तथापि वैयात्यमुपेत्य भक्त्या,
स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनुरूपवाक्यः।
इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति,
किन्नोत्सहन्ते पुरुषाः क्रियाभिः ॥३॥

अन्वय—तथापि भक्त्या वैयात्यमुपेत्य शक्त्यनुरूपवाक्यः ते स्तोता अस्मि। इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति पुरुषाः क्रियाभिः किं न उत्सहन्ते।

अर्थ—यद्यपि मैं आपके एक भी गुणांश का पूर्ण रूप से यथार्थ वर्णन करने में समर्थ नहीं हूँ, तो भी भक्ति के वश धीठ बनकर अपनी शक्ति के अनुरूप वाणी से युक्त हो आपकी स्तुति करता हूं। प्राप्त करने योग्य अभिलषित पदार्थ में अपनी शक्ति के अनुसार संसारीजन प्रवृत्ति आदि क्रियाओं द्वारा क्या सोत्साहित प्रवृत्त नहीं होते हैं। अपितु होते ही हैं।

भावार्थ—हे नाथ! यद्यपि मैं आपके एक भी गुणांश की यथार्थ स्तुति करने में असमर्थ हूँ, तो भी मुझे जो आपकी स्तुति करने की चाहना जगी है, उसका प्रधान कारण एक आपकी भक्ति ही है। भक्त लोग अपनी शक्ति का कुछ भी ख्याल न कर, धृष्टता धारण कर जैसे भी बनता है वैसे अपने इष्ट की स्तुति करते ही हैं। यही मेरी भी परिस्थिति है। अतः मैं भी भक्ति के आवेश में धृष्टता का अवलम्बन कर अपनी शक्ति के अनुसार वाक्यों को लेकर आपकी स्तुति करने रूप कार्य में प्रवृत्त हुआ हूं। यह तो जग जाहिर ही है, कि प्रत्येक पुरुषार्थीजन अपने अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति करने के लिये (चाहे वे उसे प्राप्त न कर सकते हों तो भी) अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्नशील होते हुए देखे जाते हैं।

त्वं शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठां
तुलाव्यतीतां जिन! शान्तिरूपाम्।

अत्रापिथ ब्रह्मपथस्य नेता
महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः ॥४॥

अन्वय—जिन ! त्वं तुलाव्यतीतां शान्तिरूपां शुद्धिशक्त्योः उदयस्य काष्ठां अत्रापिथ। ब्रह्मपथस्य नेता। इति इयत् प्रतिवक्तुं ईशाः।

अर्थ—हे नाथ वीर जिन ! आप उपमा रहित शांति स्वरूप शुद्धि और शक्ति के उदय की सर्वोत्कृष्ट सीमा को प्राप्त हो चुके हो। इसलिये आप ही मोक्ष-मार्ग के नेता हो। बस, हम इतना ही कहने के लिये समर्थ हैं।

भावार्थ—ज्ञानावरण और दर्शनावरण के सर्वथा अभाव होने से उद्भूत केवल ज्ञान और केवलदर्शन रूप शुद्धि, अन्तराय कर्म के सर्वथा प्रक्षय से प्रादुर्भूत अनन्त बल रूप शक्ति एवं सर्वथा मोहनीय कर्म के विलय से प्राप्त अव्याबाध सुख रूप शांति प्रभु में है। इन्हीं बातों को लक्ष्य में लेकर स्वामी समन्त भद्राचार्य यहां यह कह रहे हैं, कि हे नाथ ! आपने चार घातिया कर्मों का कि जो आत्मा के पूर्ण विकास को रोकने वाले हैं, सर्वथा आत्म साधना द्वारा नाश कर दिया है। क्योंकि उनके अभाव से होने वाले कार्य आप में अपने उत्कर्ष की चरमसीमा को प्राप्त हो चुके हैं। इसलिये आप अनन्त चतुष्टय के पूर्ण धनी हो चुके हैं। अतः आप ही मोक्षमार्ग के प्रणेता या नेता

हैं। आप सिवाय अन्य नहीं। आप ही संसारी जीवों को पूर्ण शुद्ध आत्मिक शक्ति के विकास रूप मोक्ष का मार्ग, अपने युक्ति और आगम से अविरुद्ध वचनों द्वारा बताने वाले हैं। अतः आप ही महान् पूज्य हैं। बस हम तो इतना ही जानते हैं और ऐसा ही दूसरों से कह सकते हैं।

कालः कलिर्वा कलुषाऽऽशयो वा,
श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाऽनयो[1] वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी-
प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥५॥

अन्वय—त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्वशक्तेः अपवाद हेतुः कलिः कालः, वा श्रोतुः कलुषाशय वा, प्रवक्तुः वचनानयः वा।

अर्थ—हे नाथ! आपके शासन में एकाधिपतित्व रूप लक्ष्मी के अधिपति होने की शक्ति का अपवादक एक तो यह कलिकाल है। दूसरा कारण वक्ता के वचन, उपदेश की अकुशलता है, और तीसरा कारण श्रोता जन का कलुषित हृदय है।

१—"वचनाशयो" ऐसा भी पाठ है। टीकाकार ने इसकी टीका "वचना-शयोऽनुष्ठानाशयो वेति" ऐसी लिखी है। परन्तु प्रथमगुच्छक में "वच-नानयो" ऐसा पाठ है। यही यहां रक्खा है।

भावार्थ—हे नाथ ! आपके द्वारा उपदिष्ट अनेकान्त रूप शासन में ही "वक्तुः प्रामाण्यात् वचसि प्रामाण्यं" इस दार्शनिक नियम के अनुसार आपकी महत्ता से एकाधिपतित्व स्वतः सिद्ध होता है, अन्य छद्मस्थों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त में नहीं। अतः सकल अर्थ क्रियाभिलाषी जनों को इसका ही एकमत होकर आश्रय करना युक्तियुक्त है। क्योंकि इसके आश्रय किये बिना निश्रेयस और अभ्युदय की प्राप्ति होने रूप अर्थ-क्रिया किसी भी तरह अन्य सिद्धान्तों के आश्रय करने से सुघटित नहीं होती है। यह सर्वोपरिता ही आपके शासन की एक सम्पत्ति है। इसके अधिनायक होने की योग्यता-आगमान्विता युक्ति के रूप में सामर्थ्य, उसी में है अन्य में नहीं। यद्यपि यह बात निश्चित है, फिर भी जो वह अपने इस स्वतः सिद्ध एकाधिपतित्व के अधिकार से वंचित हो रहा है, उसका सर्व प्रथम बाह्य साधारण कारण यह वर्तमान पंचमकाल है। असाधारण बाह्य कारण उपदेशक की-आचार्यादिक की, नयनिरपेक्ष उपदेश शैली है। अन्तरंग कारण उपदेश सुनने वाले श्रोताजनों का दर्शन मोहनीय से आक्रान्त चित्त है। श्लोक में "वा" शब्द एव अथवा पक्षान्तर (अथवा) इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठम्,
नय-प्रमाण-प्रकृताऽञ्जसाऽर्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैः
जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

अन्वय—जिन ! त्वदीयं मतं अद्वितीयम् । दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठम् । नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थम् । अखिलैः अन्यैः प्रवादैः अधृष्यम् ।

अर्थ—हे वीर जिन ! आपका यह अनेकान्त रूप शासन अद्वितीय है । (क्योंकि) इसमें दया, दम, त्याग और समाधि में तत्परता है । नयों एवं प्रमाणों द्वारा इसमें द्रव्य पर्याय स्वरूप जीवादिक तत्त्वों का अविरोध रूप से, सुनिश्चित असंभवद्बाधकरूप से निर्णय किया गया है । एवं इसमें अन्य समस्त एकान्त प्रवादों दर्शनमोहनीय के उदय से सर्वथा एकान्त वादियों की कल्पित मान्यताओं द्वारा किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती है ।

भावार्थ—स्तुतिकार ने यहां प्रभु के शासन में अद्वितीयता सर्वाधिनायकत्व प्रकट करने के लिये, इन तीन हेतु परक प्रयोगों का दिग्दर्शन कराया है । उनमें सर्वप्रथम दया-सर्वरूप से अथवा देशरूप से प्राणियों की हिंसा आदि से विरति, दम-मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ पांचों इन्द्रियों के विषयों में राग और द्वेष की विरति रूप संयम, त्याग बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग अथवा पात्रदान, एवं समाधि-प्रशस्तध्यान, धर्म ध्यान और शुक्लध्यान में वह स्वयं तत्पर है तथा उन्हीं मार्गों में तत्पर होने का वह उपदेश देता है । दया आदिकों में परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिये यहां उनका यथाक्रम पाठ रक्खा है । दया दम की निमित्त है, दम त्याग का और त्याग समाधि का ।

वीर के इस अनेकान्त शासन में प्रतिपादित जीवादिक तत्त्वों का जो कि द्रव्य पर्याय स्वरूप हैं, यथार्थरीति से-सुनिश्चित असंभवद्बाधक रूप से निर्णय करने वाले परस्पर सापेक्ष द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय एवं प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण हैं। पदार्थों में कथंचित् नित्यानित्यात्मकता होने से ही अर्थ क्रियाकारिता आती है। स्वतंत्र सर्वथा नित्य में अथवा सर्वथा अनित्य में यह अर्थ-क्रियाकारिता घटित नहीं होती है। ये दोनों प्रकार के पदार्थ न तो क्रम से ही अर्थ क्रिया कर सकते हैं और न युगपत् ही। इनमें न तो देशक्रम ही बनता है और न कालक्रम ही। ऐसी परिस्थिति में नित्य पदार्थ में और अनित्य पदार्थ में अर्थक्रिया-कारित्व के अभाव होने से अवास्तविकता ही सिद्ध होती है। यदि कहा जाय कि क्षणिक पदार्थ में संतान की अपेक्षा से पूर्व और उत्तरक्षण में क्रम संभव हो सकने से अर्थ क्रियाकारित्व घटित हो जायगा, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि क्षणिकवाद में संतान बन ही नहीं सकती। अतः पूर्व आकार का त्याग और उत्तर आकार का ग्रहण और पूर्वोत्तर दोनों दशाओं में पदार्थ के ध्रुव रहने के कारण पदार्थों में अर्थ क्रिया होती है, इस स्याद्वाद-सिद्धान्त को मानने में कोई विरोध नहीं आता। यही पदार्थों के स्वरूप निश्चय करने में सुनिश्चित असंभवद्बाधकरूपता है।

इसी प्रकार नय निरपेक्ष यदि प्रमाण के द्वारा वस्तु तत्व की सिद्धि की जाय तो वह भी सुनिश्चित असंभवद्बाधकरूप नहीं हो

सकती है। एकान्त रूप से प्रमाण द्वारा वस्तु की सिद्धि मानने में व्यधिकरण, संकर, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति आदि आठ दोष आते हैं। अतः परस्पर निरपेक्ष नयों एवं नयनिरपेक्ष प्रमाण से वस्तु की वास्तविकता कथमपि यथार्थ रूप से प्रसिद्ध नहीं हो सकती है। वीर के इस अनेकान्त शासन में वस्तु की सिद्धि का प्रक्रम सापेक्ष नय और नयसापेक्ष प्रमाणों द्वारा ही सम्पन्न हुआ है। इसीलिये एकान्तवादियों द्वारा कल्पित प्रवादों से उनके सिद्धान्त में किसी भी रूप से किसी भी समय में बाधा नहीं आ सकती है। यह स्तुतिकार का अभिप्राय है।

अभेद-भेदाऽऽत्मकमर्थ-तत्वम्,
तव स्वतंत्राऽन्यतरत् ख-पुष्पम्।
अवृत्तिमत्वात् समवाय-वृत्तेः
संसर्ग-हानेः सकलाऽर्थ-हानिः ॥७॥

अन्वय—तव अर्थतत्वं अभेदभेदात्मकम्। स्वतंत्रान्यतरत् खपुष्पं। समवायवृत्तेः अवृत्तिमत्वात् संसर्गहानेः सकलार्थहानिः।

अर्थ—हे जिन! आपके अनेकान्त शासन में जीवादिक समस्त पदार्थ द्रव्य पर्याय-भाव अभाव स्वरूप हैं। इनसे अतिरिक्त स्वतंत्र द्रव्यमात्र अथवा पर्याय मात्र एवं परस्पर निरपेक्ष एकत्र तदुभय द्रव्य पर्याय मात्र भाव अभाव मात्र पदार्थ-द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य आदि भाव रूप और प्रागभाव आदि अभाव रूप,

आकाश कुसुम जैसे हैं। समवाय सम्बन्ध को, अपने समवायियों में अन्य समवाय आदि सम्बन्ध से असम्बन्धित होने के कारण सम्बन्ध की हानि होने से समस्त सत् असत् रूप से कल्पित पदार्थों की प्रक्रिया का अभाव हो जाता है।

भावार्थ—पदार्थों में कथंचित् भावाभावात्मकता मानने पर ही अर्थ क्रियाकारिता आती है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ द्रव्यार्थिक दृष्टि की अपेक्षा से नित्य और पर्यायार्थिक दृष्टि की अपेक्षा से अनित्य है। इसी का भाव यह है कि प्रत्येक पदार्थ भाव और अभाव स्वरूप है। श्लोकस्थ "अभेदभेदात्मक" यह पद उपलक्षणमात्र है, इससे एक अनेकात्मकता का भी यहां ग्रहण हो जाता है। विपरीतता में-सर्वथा नित्यता में या सर्वथा अनित्यता में या परस्पर निरपेक्ष नित्य अनित्यता में अर्थ क्रियाकारिता पदार्थों में सुघटित नहीं होती। परिणामनशील नित्य में ही यह व्यवस्था बनती है। परिणमनशील नित्यता का मतलब भी यही है कि पदार्थ सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य नहीं है। क्योंकि इस अवस्था में उसमें क्रम और अक्रम से अर्थक्रियाकारिता नहीं आती है। वस्तु की वस्तुता ही अर्थक्रियाकारिता पर अवलम्बित है। इसके बिना वह खपुष्पसम है। इसी विषय का उल्लेख इस श्लोक में सूत्रकार ने किया है। वे इसमें स्पष्ट रूप से यह प्रकट करते हैं, कि प्रत्येक पदार्थ आदीप आव्योम अथवा चाहे वह भाव रूप से हो चाहे अभाव रूप हो, समस्वभाव है। ऐसा नहीं है कि जैसा वैशेषिकों का यह सिद्धान्त है--कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य

विशेष और समवाय ये ६ पदार्थ सत्स्वरूप ही हैं और प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव एवं अत्यन्ताभाव अभाव स्वरूप ही। वैशेषिक सिद्धान्तकारों ने जिस प्रकार सत् असत् पदार्थों की प्रक्रिया जुदी जुदी श्रेणी में विभक्त की है, इस प्रकार की कोई भी प्रक्रिया जैन दार्शनिकों ने नहीं की। उनकी दृष्टि में तो जो पदार्थ किसी अपेक्षा से सत् की श्रेणी में है, वही पदार्थ किसी दूसरी अपेक्षा से असत् की श्रेणी में भी आ जाता है। क्योंकि "यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयं" यदि इसी प्रकार का स्वरूप पदार्थों को स्वयं रुचता है तो हम क्या करें। एकांगी उनका स्वरूप मानकर उनकी व्यवस्था करना यह न्यायानुकूल दृष्टि नहीं। इस प्रकार की व्यवस्था से तो उनके असली स्वरूप पर बट्टा लगाना है। ऐसी तो कोई वस्तु ही नहीं है जो एकान्त रूप से भावात्मक या अभावात्मक ही हो। जो भावात्मक है वह अभावात्मक किसी रूप से हो जाती है और जो अभावात्मक है वह भी किसी रूप से भावात्मक हो जाती है। इसी प्रकार परस्पर निरपेक्ष भाव और अभाव भी एक जगह नहीं रहते हैं। यदि इस प्रकार के कोई हैं तो वे एक खपुष्प ही हैं। पदार्थ नहीं हैं। नित्य अनित्य, एक अनेक और भाव अभाव ये सब परस्पर सापेक्ष धर्म हैं। निरपेक्ष नहीं।

वैशेषिक सिद्धान्तकारों ने परस्पर निरपेक्ष भी पांच पदार्थों को द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेषों को समवाय सम्बन्ध

के द्वारा परस्पर में सम्बन्धित माना है। उनका सिद्धान्त है कि द्रव्य से गुण, गुण से कर्म, कर्म से सामान्य और सामान्य से विशेष, ये सब पदार्थ परस्पर में बिल्कुल भिन्न २ जुदे २ हैं। परन्तु इन सबको समवाय सम्बन्ध ही मिलाता है। जिस प्रकार दो ईंटों को चूना परस्पर में संश्लिष्ट कर देता है, उसी प्रकार यह समवाय भी अवयव अवयवी, गुण गुणी, क्रिया क्रियावान् जाति व्यक्ति एवं नित्य द्रव्य और विशेषों में रहता हुआ उन सबको आपस में अत्यन्त संश्लिष्ट बना देता है। इसलिये अवयव अवयवी आदि में अत्यन्त भेद—परस्पर स्वतन्त्रता होने पर भी धर्म धर्मी भाव—भावाभावात्मकता आदि सम्बन्ध सुघटित हो जाता है। समवाय सम्बन्ध को वैशेषिकों ने एक, नित्य, अमूर्त और सर्वव्यापक माना है।

इस पूर्वोक्त मान्यता पर स्तुतिकार का यह कहना है कि अवयव और अवयवी आदि जो परस्पर सर्वथा स्वतंत्र हैं, उन्हें परस्पर में संबन्धित कराने के लिये यह समवाय काम देता है। जैसे ईंटों को चूना संश्लिष्ट कर देता है, यह हम तुम्हारी मान्यतानुसार यदि थोड़े समय के लिये स्वीकार भी करलें, तो भी हमारे हृदय में यह प्रश्न अवश्य एक प्रकार का कौतूहल मचाता है कि वह समवाय जो परस्पर जुदे २ गुण गुणी आदि को मिला जुला देता है अपने आपको अपने इन सम्बन्धियों-समवायियों-में किस संबन्ध से मिलाता—सम्बन्धित करता है। सम्बन्ध मुख्यतया ३ प्रकार का है-१. समवाय २. संयोग और ३. विशेषणविशेष्य।

अपने समवायियों में अपने आपको मिलाने के लिये यह समवाय यदि दूसरे समवायान्तर की अपेक्षा रखता है, यदि आपकी इस मान्यता को हम स्वीकृति का रूप दे दें, तो भी हमारी शंका की निवृत्ति नहीं होती—कारण कि एक तो, आपके यहां समवाय एक ही माना गया है, इस प्रकार की आपकी मान्यता में उसमें अनेकता आने से अपसिद्धान्त कथन होता है। दूसरे जो समवायान्तर प्रथम समवाय को समवायियों में सम्बन्धित करेगा उस दूसरे समवायान्तर को सम्बन्धित करने के लिये अपने सम्बन्धियों में एक तीसरे समवाय की कल्पना करनी पड़ेगी, इस प्रकार अनवस्था दोष का आना स्वीकृत पद्धति में समीचीनता का विघातक होता है। संयोग सम्बन्ध की कृपा से भी यह समवाय अपने आपको अपने सम्बन्धियों समवायियों से मिला नहीं सकता क्योंकि "द्रव्यद्रव्ययोरेव संयोगः" संयोग सम्बन्ध गुण है और गुण में दूसरे गुण रहते नहीं हैं। अब यह संयोग सम्बन्ध उस अपने मित्र रूप समवाय को उनके संबन्धी जो गुण गुणी रूप समवायी हैं उनमें किस प्रकार मिला सकता है। यदि मिला देता है तो इसमें गुणपने का व्याघात होता है। कारण कि जब यह समवाय को उनमें मिलायगा तो स्वयं भी उसे वहां मिलना पड़ेगा। इस हालत में अन्य गुणों के साथ भी उसे संश्लिष्ट हो जाने से उसमें गुणत्व का अभाव मानना ही पड़ेगा। विशेषण विशेष्य भाव वैशेषिकों ने समवाय और समवायियों का माना है। समवाय विशेषण और समवायी विशेष्य है। इस अपेक्षा समवाय

संबन्ध अपने समवायियों में इस विशेषण–विशेष्य संबन्ध की कृपा से संबन्धित रह सकता है, परन्तु जब भिन्न भिन्न गुण गुणी आदि को जिस प्रकार यह समवाय आपस में मिला देता है और अपने आपको भी विशेषण विशेष्य भाव से मिला देता है उसी प्रकार यह विशेषण विशेष्य भाव भी उन समवायियों से सर्वथा जुदा है, इसे भी अपने आपको मिलाने के लिये वहां पर अन्य विशेषण विशेष्य भाव की आवश्यकता अनिवार्य होगी। ऐसी हालत में फिर वही अनवस्था नाम का प्रबल दोष सामने आकर खडा हो जाता है। अतः इस अनवस्था दोष को दूर करने के लिये वैशेषिकों द्वारा जो समवाय संबंध अपने सम्बन्धियों में बिना किसी दूसरे सम्बन्ध के स्वतः रहता है यह बात कही जाय तो उनकी इस मान्यता में 'संसर्गहानेः सकलार्थहानिः' होती है। कारण कि जिस प्रकार बिना किसी सबन्ध के समवाय अपने आपको गुण गुणी आदिकों के साथ संबन्धित करता है उसी प्रकार प्रत्येक गुण गुणी, अवयव अवयवी, क्रिया क्रियावान् आदि पदार्थों का संबन्ध भी परस्पर में स्वतः मान लिया जायगा तब फिर इस समवाय की मान्यता का कोई हेतु ही नहीं रहता है। फिर जो वैशेषिक सिद्धान्त में सत्ता के संबंधसे द्रव्य गुण और कर्म में सत्त्व–भावरूपता मानी जाती है वह नहीं मानी जा सकेगी; क्योंकि सत्ता का सम्बन्ध कराने वाला समवाय पदार्थ सिद्ध ही नहीं होता। इस प्रकार समवाय के अभाव में सकल समवायियों का भी अभाव हो जायगा। द्रव्य का अभाव होने पर

उसके आश्रित रहने वाले गुण कर्म सामान्य और विशेष इन पदार्थों की भी हानि हो जायगी। इस प्रकार समस्त पदार्थों का अभाव होने से वैशेषिक मत का दुर्निवार नाश प्रसक्त होता है। अतः यह बात निश्चित है कि स्वभाव से द्रव्य ही गुण, कर्म, सामान्य और विशेषों के साथ कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध से सम्बन्धित प्रत्यय विशेष से यह द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है, यह सामान्य है, ये विशेष हैं, द्रव्य का और इन सबका यह अविष्वग्भाव सम्बन्ध है, इस प्रकार के व्यवहार का विषय होता है। इसलिये यह सब व्यवस्था नयाधीन है। अतः पदार्थ किसी अपेक्षा से भावस्वरूप है और किसी अपेक्षा से अभाव स्वरूप है। परस्पर सापेक्ष है, स्वतन्त्र नहीं। जिस प्रकार योगों ने एक ही वस्तु को सामान्य विशेषात्मक माना है, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेष धर्मात्मक है।

भावेषु नित्येषु विकारहानेः
न कारकव्यापृति-कार्य-युक्तिः
न बंध-भोगौ न च तद्विमोक्षः
समंतदोषं मतमन्यदीयम् ॥८॥

अन्वय—भावेषु नित्येषु (प्रतिज्ञायमानेषु) विकारहानेः कारकव्यापृति कार्ययुक्तिः न। बन्धभोगौ न-तद्विमोक्षः न (अतः) अन्यदीयं मतं समन्त-दोषम्।

अर्थ—पदार्थों के सर्वथा नित्य मानने पर उनमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं हो सकता है। विकार के अभाव में कर्तादि कारकों के व्यापार का भी अभाव प्रसक्त होता है, कारकों के व्यापार के अभाव में कार्यों का भी अभाव सिद्ध होता है। कार्यों के अभाव में कार्य-लिङ्ग जन्य अनुमान का भी अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। कूटस्थ नित्य मानने पर न बन्ध सिद्ध होता है और न भोग-फल ही। बन्ध के अभाव में उसके छूटने रूप मुक्ति का भी सद्भाव कैसे सिद्ध हो सकता है। अतः हे नाथ! आपके सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य सिद्धान्तकारों के मत सब तरह से सदोष हैं।

भावार्थ—वैशेषिक आदि सिद्धान्तकारों की यह मान्यता है कि दिशा, आकाश, काल, आत्मा और काल परमाणु रूप पृथ्वी एवं परम महत्त्वादिक गुण तथा सामान्य विशेष और समवाय ये सर्वथा नित्य हैं। नित्य का लक्षण उन्होंने यह माना है कि जो "अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यं" नाश और उत्पन्न न हो एवं सदा एक रूप से स्थिर रहे व नित्य है। पदार्थ जब इस प्रकार से नित्य माने जावेंगे तो उनमें किसी भी प्रकार का परिणमन आदि रूप विकार उद्भूत ही नहीं हो सकता है। परन्तु ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो परिणमन आदि विकार से रहित प्रतीत होता हो। पदार्थ के स्वरूप का नाश नहीं होना ही नित्यत्व है। क्योंकि उत्पाद और विनाश के होते हुए भी, जो अपने स्वरूप से परित्यक्त नहीं होता, वही नित्य है (तद्भावाव्ययं नित्यं

तत्त्वा० सूत्र. अ. ५)। यदि पूर्वोक्त नित्य का लक्षण निर्दोष स्वीकार किया जावे तो उत्पाद और व्यय का कोई भी आधार नहीं रह सकता। जैन सिद्धान्त के अनुसार जो भी उत्पाद व्यय नित्य पदार्थों में माना गया है उससे उसकी नित्यता पर कोई बट्टा नहीं आता, कारण कि इनके होने पर भी पदार्थ अपने स्वरूप से कभी नष्ट नहीं होता है। कूटस्थ नित्य में इनका सर्वथा संभव ही नहीं हो सकता। सत् पदार्थों की श्रेणी में वे ही परिगणित हो सकते हैं जो उत्पाद व्यय रूप विकार से सम्पन्न होकर भी ध्रौव्य—अपने स्वरूप से च्युत नहीं—हैं। इनके बिना पदार्थ में सत्त्व आता ही नहीं है। जैन दार्शनिक यही प्रक्रिया है। अतः द्रव्य की अपेक्षा से पदार्थ नित्य और पर्याय की अपेक्षा से पदार्थ अनित्य है। इस प्रकार पदार्थों में नित्यता सर्वथा न मानकर सापेक्षिक ही मान्य सिद्ध होती है। इन दोनों का अस्तित्व पदार्थ में युगपत् रहता है। अतः एक धर्म को ही एकान्त रूप से अंगीकार करना दुर्नयवाद है।

इस प्रकार पदार्थ व्यवस्था है। परन्तु इस व्यवस्था से विपरीत व्यवस्था—सर्वथा नित्यैकान्त पदार्थों की स्वरूप मान्यता, में एक तो प्रबल यही दोष आता है कि उनमें किसी भी प्रकार की क्रिया आदि रूप विक्रिया नहीं हो सकती है, दूसरे कर्ता आदिक कारकों का व्यापार जो कार्यों के उत्पादन में होता है, उसकी भी अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि "क्रियाविशिष्टं द्रव्यं कारकं" क्रिया विशिष्ट द्रव्य ही कारक माना जाता है। कारक व्यापृति

सफल तो जब होती कि इससे कुछ होना जाना है तो तथा स्वयं भी वह कारक कुछ क्रिया करता। इसके व्यापार के अभाव में कार्यरूप-द्रव्य, गुण और कर्मरूप पदार्थों की प्रतिष्ठा भी नहीं हो सकती। विकार के अथवा कार्य रूप द्रव्य के अभाव में आत्मा के साथ बन्धरूप कार्य भी नहीं हो सकता, और इसके अभाव में उसके फल का भोग करना कैसे बन सकता है। बन्ध होने पर ही उसके सर्वथा विगम रूप मुक्ति की सिद्धि होती है. परन्तु अपने कारण के अभाव में इसका भी संभव कैसे हो सकता है। दूसरे, जब कार्य का ही अस्तित्व सिद्ध नहीं होता. तो कार्य लिङ्ग से अनुमान का उत्थान भी क्योंकर हो सकेगा। इस प्रकार किसी भी पदार्थ की व्यवस्था इस नित्यैकान्त में सुघटित नहीं होती है। जब पदार्थ व्यवस्था ही नहीं बनती, या किसी भी पदार्थ का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता, तब भावात्मक पदार्थों के विशेषणरूप से प्रतीत होने वाले विचारे प्रागभाव आदि अभावों का अस्तित्व भी कैसे सिद्धि पथ पर आ सकता है। यह व्याख्या वैशेषक, नैयायिक एवं मीमांसक के सिद्धान्तों की समीक्षात्मक की है।

सांख्य सिद्धान्त की मान्यता में भी ये ही सब पूर्वोक्त दोष उपस्थित होते हैं, क्योंकि यह सिद्धान्त भी नित्यैकान्तवादी है। वही यहां स्पष्ट किया जाता है—

सांख्यों ने मूलतः प्रकृति और पुरुष ये दो तत्त्व ही माने

हैं। बाकी समस्त प्रकृति के विकार हैं, ऐसी इनकी मान्यता है। प्रकृति और पुरुष ये दो ही तत्त्व सर्वथा नित्य हैं: बाकी के महान् (बुद्धि), अहंकार, ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ तन्मात्रायें, १ मन और ५ भूत ये समस्त विकार रूप हैं। सांख्य-कारिका में यही बात स्पष्ट की है—

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः पञ्च।
षोडशकश्च विकारो, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" ॥

सां० का० ॥३॥

मूल प्रकृति, अविकृति–किसी का विकार नहीं है। महान् (बुद्धि), अहंकार और ५ तन्मात्राएँ ये, प्रकृति (कारण) और विकृति (कार्य) दोनों हैं। ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय और ५ पांचभूत तथा १ मन ये षोडश तत्त्व विकृति रूप ही हैं। पुरुष (आत्मा) प्रकृति और विकृति दोनों से रहित है। यह गाय है, यह घोडा है, और कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, इस प्रकार किसी वस्तु के निश्चय रूप ज्ञान को बुद्धि कहते हैं। बुद्धि से अहंकार होता है। मैं चखता हूं, मैं खाता हूँ, इत्यादि प्रत्यय रूप यह अहंकार है। इस अहंकार से ५ तन्मात्राएं होती हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये ५ तन्मात्राएं हैं। इनसे ५ भूत आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी होते हैं। स्पर्शन, रसना घ्राण, चक्षु और कर्ण ये ५ ज्ञानेन्द्रिय और वाक, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये ५ कर्मेन्द्रिय हैं।

अमूर्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्ता निर्गुणो सूक्ष्मः, आत्मा कापिलदर्शने॥

पुरुष (आत्मा) अमूर्त, चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वव्यापी, क्रिया रहित, अकर्ता, निर्गुण और सूक्ष्म है। अन्धे और लंगडे पुरुष की तरह प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है।

"विविक्ते दृक्परिणतौ, बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे, यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥"

जिस प्रकार निर्मल जल में पड़ा हुआ चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल का विकार माना जाता है, चन्द्रमा का नहीं, उसी प्रकार आत्मा में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ने पर आत्मा में जो भोक्तृत्व है, वह केवल बुद्धि का विकार है। वास्तव में पुरुष तो निर्लेप है। निष्कर्ष कहने का यह है, कि पुरुष (चित्शक्ति) स्वयं पदार्थों का ज्ञान नहीं करता। इन्द्रियों द्वारा सुख दुःखादिक बुद्धि में ही प्रतिभासित होते हैं। बुद्धि दोनों तरफ से दर्पण के तुल्य है। इसमें एक ओर पुरुष और दूसरी ओर बाह्य जगत झलकता है। बुद्धि में चेतना शक्ति—आत्मा के झलकने से कर्तव्य बुद्धि का निश्चय होता है। यह निश्चय बुद्धि का असाधारण धर्म है। यद्यपि बुद्धि अचेतन है, परन्तु चेतन के प्रतिबिम्ब से चेतन जैसी प्रतिभासित होती है। "बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति तदेव भोक्तृत्वमस्य" दर्पण के समान बुद्धि में

पड़ने वाला पदार्थों का प्रतिबिम्ब पुरुषरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है। बुद्धि के प्रतिबिम्ब का पुरुष में झलकना ही पुरुष का भोग है। इसी से पुरुष को भोक्ता कहते हैं। आत्मा में भोक्तृत्व बुद्धि का ही विकार है।

इस प्रकार इस सांख्याभिमत प्रक्रिया का जो यहां तक दिग्दर्शन कराया है, उसका अभिप्राय केवल इतना ही है, कि नित्य प्रकृति जो कुछ करती है, वह सब नित्य पुरुष के लिये ही करती है। इस पर उत्तर पक्ष का यह कहना है कि जब पुरुष अपरिणामी और सर्वथा नित्य है तब वह अपने पूर्वरूप को छोड़े बिना सुख दुःखादिक का उपभोग नहीं कर सकता। यदि इसे पूर्व रूप का त्यागी और उत्तर रूप का प्रापक माना जायगा तो इसमें विक्रिया प्राप्त होने से सर्वथा नित्यता का अभाव प्रसक्त होता है। पूर्व रूप का त्याग और उत्तर रूप का उपादान, यही तो विक्रिया है। य विक्रिया सांख्य लोगों को अभीष्ट नहीं है। दूसरे; जब पुरुष सर्वथा विक्रियारहित है तो क्या आवश्यकता है, जो नित्य प्रकृति पुरुष के लिये प्रवृत्ति रूप विक्रिया में प्रवृत्तिशील हो। यदि थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जाय, तो भी वह प्रकृति विकार रूप महदादि पुरुष का कुछ उपकार करता है, या नहीं। यदि करता है तो वह उपकार पुरुष से भिन्न करता है, या उससे अभिन्न। यदि वह उपकार उससे अभिन्न महदादि विकारों द्वारा किया जाता है, तो कृत उपकार से सर्वथा अभिन्न होने से पुरुष ही किया गया, यह बात ही इसमें सिद्ध

होती है। यदि कृत उपकार पुरुष से भिन्न है, यह मान्यता स्वीकार की जाय, तो वह महदादि द्वारा संपादित उपकार पुरुष के लिये किया गया, यह बात कैसे सिद्ध हो सकती है। क्योंकि सर्वथा भिन्न पक्ष में वह उपकार अन्य के लिये किया गया है, ऐसा क्यों न मान लिया जायगा। पुरुष के लिये ही किया गया है, यह कैसे माना जा सकेगा ?

शंका—महदादि विकारों का देखना मात्र ही प्रकृति के विकाररूप महदादि द्वारा पुरुष का उपकार है। क्योंकि प्रकृति जो कुछ करती है, वह पुरुष के भोग के लिये ही करती है।

उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि जब आत्मा सर्वथा उदासीन है, तो उसे क्या आवश्यकता है कि वह प्रकृति कृत विकारों का निरीक्षण करे।

शंका—उदासीन होने पर भी, वीतराग सर्वज्ञ के दर्शन की तरह पुरुष का विषय-महदादि विकार के निरीक्षण करने में हानि ही कौन सी है। यह निरीक्षण ही आत्मा में उनका भोक्तृत्व है।

उत्तर—इस प्रकार की मान्यता में जैनाभिमत सर्वज्ञ की तरह आत्मा में परिणमनशीलता सिद्ध होती है। क्योंकि प्रति समय परिणमनशील पदार्थों के निरीक्षण में आत्मा सर्वथा अपरिणामी नहीं रह सकती है।

प्रश्न—"न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः" इस सिद्धान्तानुसार

चिच्छक्ति (आत्मा) सर्वथा अपरिणामी ही मानी गई है। उसे परिणामी मानना सिद्धान्त प्रतिकूल कथन है।

उत्तर—जब चेतना (आत्मा) दर्शित विषय को ग्रहण करने की ओर झुकती है, और अदर्शित विषय का परित्याग करती है, इस प्रकार त्याग और उपादान रूप क्रियाओं के करने से, एवं निज की अपेक्षा इन दोनों अवस्थाओं में अवस्थित रहने से, जब आत्मा में परिणमनशीलता की सिद्धि होती है, तब फिर उसे इस प्रकार न मानकर सर्वथा अपरिणमन शील मानना, केवल एक सिद्धान्त का ही मोह है। दूसरे; चेतना शक्ति को पदार्थों के ज्ञान से शून्य कहना, यह "माता मे वन्ध्या" की तरह परस्पर विरुद्ध है। अमूर्त चेतना शक्ति का बुद्धि में प्रतिबिंब मानना भी एक विलक्षण कल्पना है। प्रतिबिम्ब तो मूर्त पदार्थ का ही पड़ता है। अमूर्त का नहीं। जब तक चेतनाशक्ति में परिवर्तन नहीं माना जायगा, या स्वयं उसे परिणामी रूप से स्वीकृत न किया जायगा, तब तक उसका बुद्धि में परिवर्तन होना भी संभव नहीं हो सकता है। बुद्धि को जड़ मानना यह भी एक निर्मूल कल्पना मात्र है। चेतना शक्ति के प्रतिबिम्बित होने से, उसे चेतन जैसी मानना तो केवल औपचारिक बात है। औपचारिक कल्पना से सत्यार्थ की सिद्धि नहीं होती। चेतन पुरुष के [illegible] दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ने से कहीं दर्पण भी चेतन होता [illegible]-गया है क्या? "अचेतन बुद्धि चेतन की तरह प्रतिभासित होती है"

यह केवल आरोप है। आरोप से वास्तविक अर्थ क्रिया नहीं होती है।

शंका—पर-संग्रह नय की विषय भूत सत्ता की तरह हम चित् शक्ति को सर्वथा अपरिणामी ही मानेंगे। परसत्ता में अनेक अवान्तर सत्ताओं का समावेश होने पर भी वह अपरिणामी ही मानी जाती है। उसमें भेद कल्पित नहीं होता है।

उत्तर—जैन सिद्धान्त की दृष्टि में परसत्ता भी परिणाम से शून्य नहीं मानी गई है।[1] उसमें प्रति समय परिणमन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से होता रहता है।

शंका—संक्रम-परिणमन तो, पदार्थों का अध्यवसाय करने वाली बुद्धि में ही माना गया है। चित् शक्ति में नहीं। बुद्धि द्वारा अध्यवसित पदार्थों को ही चेतनाशक्ति अध्यवसित करती है। किसी का परिणमन किसी में भला कैसे आ सकता है।

उत्तर—ठीक है, इस तरह तो बुद्धि में भी परिणमन सिद्ध नहीं हो सकता। कारण कि पदार्थों का परिणमन पदार्थों के ही साथ रहेगा। बुद्धि से उसका क्या सम्बन्ध।

शंका—निमित्त को लेकर परिणमन मानने में कोई हानि नहीं है। जैसा पदार्थ होता है, उसी रूप से बुद्धि द्वारा वह अध्यवसित होता है। यही बुद्धि का परिणमन है।

१—सत्ता सव्वपयत्था, सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
उप्पादवयधुवत्था, सपडिवक्खा हवदि एक्का॥ प्रवचनसार॥

उत्तर—तो फिर इसी प्रकार से प्रतिसंक्रम, चित् शक्ति में भी सिद्ध हो जाता है। क्योंकि बुद्धि द्वारा अध्यवसित पदार्थ का ही ज्ञाता तो आत्मा होती है। आत्मा में उन्हीं पदार्थों का तो संक्रम होता है, जो बुद्धि द्वारा अध्यवसित हुए हैं। अतः बुद्धि की तरह उसमें भी परिणमन सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार पुरुष में परिणमनशीलता प्रसिद्ध होने पर भी, उसे कूटस्थ नित्य मानना, उसके परिणमन स्वरूप पर कुठाराघात करना है। जब चित् शक्ति (आत्मा) सर्वथा अपरिणमन रूप में ही रहेगी, तो फिर प्रकृति को ऐसी क्या आवश्यकता पड़ी, जो उसके लिये महदादि विकारों के उत्पादन में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करे। प्रकृति भी तो जब सर्वथा नित्य है, तब वह भी महदादि विकारों की जनक कैसे हो सकेगी? जब तक यह परिणमन स्वरूपता को अंगीकार नहीं करती, तब तक इससे महदादि विकार उत्पन्न किये ही नहीं जा सकते। इस प्रकार सर्वथा नित्य तत्त्व मानने में, विकार की हानि होने से, पुरुष का महदादि विकारों और प्रकृति के साथ युक्ति (योग सम्बन्ध) संसर्ग ही नहीं बन सकता है। संसर्ग के अभाव में आत्मा में मुक्तात्मा की तरह बन्ध और भोग भी सिद्ध नहीं हो सकते। यद्यपि सांख्य सिद्धान्त के अनुसार, बन्ध और मोक्ष प्रकृति को ही होते हैं। परन्तु यह मान्यता भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृति जब जड़—अचेतन है, तो उसके बन्ध मोक्ष मानना बन्ध्या के पुत्र को मुक्ति मानने जैसी कल्पना है। बन्ध के अभाव में प्रकृति पुरुष की विवेक

स्व्याप्ति रूप मुक्ति भी आत्मा के सिद्ध नहीं होती है। यदि यही कल्पना सांख्यों की किसी तरह मान भी ली जाय कि बन्ध एवं मुक्ति प्रकृति को ही होते हैं, तो भी सर्वथा नित्यता की मान्यता में "प्राकृतिक आदि तीन प्रकार के बन्ध प्रकृति के होते हैं, एवं उनका फल पुरुष को भोगना पड़ता है, प्रकृति अपनी प्रवृत्ति से मुंह मोड़ लेती है, यही उसकी मुक्ति है इत्यादि" समस्त कथन संगत नहीं बैठता। क्योंकि अचेतन होने से प्रकृति को न बन्ध होता है और न मोक्ष ही। बन्ध और मोक्ष तो आत्मा को होते हैं। परन्तु सांख्य सिद्धान्तानुसार इन्हें सर्वथा नित्य मानने पर, विकारों की हानि होने से, प्रवृत्ति रूप कारक के व्यापार के साथ और कार्यों के साथ संसर्ग नहीं होने से, पुरुष में बन्ध और उसके फल का सर्वथा अभाव प्रसक्त होता है। इससे उसमें मुक्ति का भी सद्भाव सिद्ध नहीं होता, यही बात इस श्लोक में पूर्वोक्त प्रकार से प्रदर्शित की गई है।

नित्य होने पर भी आत्मादि पदार्थों में स्वभाव से ही विकार मानकर कारक व्यापार, कार्य और इनका परस्पर संसर्ग सिद्ध हो जायगा, इस प्रकार की नित्यैकान्तवादियों की मान्यता का निरसन करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—कि

अहेतुकत्वं प्रथितः स्वभावः,
तस्मिन् क्रिया-कारकविभ्रमः स्यात्।

आबालसिद्धे र्विविधार्थ-सिद्धि-
वदान्तरं किं तदसूयतां ते ॥९॥

अन्वय—स्वभावः अहेतुकत्वं प्रथितः, तस्मिन् क्रियाकारक-विभ्रमः स्यात्। ते असूयतां किं तत् वादान्तरम्। विविधार्थसिद्धिः आबालसिद्धेः।

अर्थ—नित्य रूप से स्वीकृत आत्मादिक पदार्थों में यदि स्वभाव से ही विकार अंगीकार किया जावे—नित्य आत्मादिक पदार्थों का स्वभाव यदि निर्हेतुक माना जावे, तो ऐसी हालत में क्रिया और कारक वहां विभ्रम रूप ही मानना पड़ेंगे। इस प्रकार की मान्यता में स्वभावैकान्तवादी को अपने वाद के सिवाय एक दूसरे ही विभ्रमैकान्तवाद का आश्रयण करना पड़ेगा। परन्तु हे नाथ! स्याद्वाद के भानुस्वरूप आपके साथ ईर्ष्या करने वालों का यह विभ्रमैकान्तरूप वादान्तर भी सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि अनेक प्रकार के वास्तविक पदार्थों की सिद्धि आबाल जगत तक में भी प्रसिद्ध है।

भावार्थ—आत्मादिक पदार्थों को नित्य मानने पर, जो ८वें श्लोक में दूषण प्रकट करने में आये थे, उनके उद्धारार्थ यदि नित्यैकान्तवादी, उन पदार्थों का स्वभाव निर्हेतुक अंगीकार करे, तो उसकी यह मान्यता भी न्यायानुकूल नहीं है। इसी विषय का समुचित उत्तर इस श्लोक में स्तुतिकार ने दिया है। इसे हम यहां शंका और प्रत्युत्तर के रूप में स्पष्ट करते हैं—

शंका—आत्मादिक नित्य पदार्थों में विकार यदि कारणाधीन कल्पित किया जावे तब ही पूर्वोक्त दोषापत्ति लागू पड़ती है। परन्तु हम तो वहां उसे स्वभावाधीन होता हुआ ही मानते हैं। तब हमारी मान्यता निर्दोष है।

उत्तर—इस प्रकार कल्पित मान्यताएं सिद्ध नहीं मानी जाती हैं। यदि नित्य आत्मादिक पदार्थों में स्वतः, निर्हेतुक विकार मान्य किया जाय, तो ज्ञप्ति और उत्पत्ति लक्षण रूप अर्थ क्रियाएं जो वहां सहेतुक प्रसिद्ध हैं, वे सब विभ्रम रूप से ही अंगीकृत करना पड़ेंगी। अन्यथा स्वभाव सहेतुक ही सिद्ध होगा। क्रिया में विभ्रमता आने से कारक में भी विभ्रमता आवेगी। क्योंकि क्रियाविशिष्ट का नाम ही कारक है।

शंका—आत्मा में क्रिया कारक को विभ्रमता आती ही नहीं है। क्योंकि वहां चेतना ही अर्थक्रिया है। इससे व्यतिरिक्त कार्यों की उत्पत्ति व ज्ञप्ति वहां अर्थक्रिया नहीं है। क्योंकि इनकी हेतु तो प्रधान है। अतः चेतनारूप क्रिया स्वरूप होने से पुरुष आत्मा में कारकत्व की भी अनर्गल सिद्धि हो जाती है। फिर नित्य मानने पर क्रिया और कारक में विभ्रमता कैसे आप उद्भावित करते हैं। अतः पुरुष की अर्थक्रिया "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपं" इस सिद्धान्त के अनुसार चेतना ही है, और यह स्वसंवेदन गम्य है।

उत्तर—इस प्रकार की चेतना को स्वसंवेदनगम्य की, मान्यता में "बुद्धयध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" यह सिद्धान्त प्रति-

कूल पड़ता है। क्योंकि चेतना जब तक बुद्धि द्वारा नहीं अध्य-वसित होती है, तब तक वह पुरुष द्वारा जानी नहीं जा सकती। यह स्वयं सांख्य सिद्धान्त अभिमत तत्त्व है। अन्यथा बुद्धि की कल्पना करने का क्या प्रयोजन है। दूसरे, नित्य चेतना को अर्थ क्रिया रूप से किसी भी सिद्धान्तकार ने स्वीकृत नहीं किया है। इस विषय के साधक न तो प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और न अनुमान आदि ही।

शंका—चेतना को स्वतः प्रकाशित होने से, एवं आत्मा का निजरूप होने से, बुद्धि द्वारा अध्यवसित होने की आवश्यकता ही क्या है ?

उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि चेतना को आत्मा का निज स्वरूप मानने से, उसमें शाश्वतिकत्व सिद्ध होता है। शाश्वतिकत्व आने से, तुम जो उसे स्वयं अर्थ क्रिया रूप से स्वीकार करते हो, सो यह बात भी सुसंगत नहीं होती है। क्योंकि स्वरूपवान् पदार्थ का स्वरूप अर्थ क्रिया नहीं है। यह तो पूर्वाकार के त्याग और उत्तराकार के उपादान रूप से ही प्रसिद्ध है। इस प्रकार की व्यवस्था नित्य में नहीं हो सकती। क्योंकि वहां न कारक हेतुओं का व्यापार हो सका है और न ज्ञापक हेतुओं का।

शंका—चेतना को हम अर्थक्रिया रूप से न मानकर, यदि आत्मा के स्वभाव रूप से मानें, तो कोई आपत्ति हो सकती है ?

उत्तर—हां, इस प्रकार की मान्यता में उनमें आत्मा में परिणामित्व का प्रसंग आता है। क्योंकि परिणाम, विवर्त्त, धर्म और स्वभाव ये सब पर्यायवाची शब्द हैं।

इस तरह आत्मादिक पदार्थों में सर्वथा नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती है, फिर भी सिद्धान्त व्यामोह वश वहां इसे मानना, उनके परिणमन स्वरूप पर कुठाराघात करना है। क्योंकि इस प्रकार की मान्यता में, प्रतीयमान क्रिया और कारक में वहां सर्वथा विभ्रमता का प्रसंग आता है। इसे इष्टापत्ति का रूप देकर यदि नित्यैकान्तवादी सर्वथा विभ्रमैकान्त के भक्त होने की घोषणा करना चाहे तो भी यह ठीक नहीं। कारण कि यह विभ्रमैकान्त की मान्यता स्वयं विभ्रम स्वरूप है या अविभ्रमस्वरूप, इस प्रकार के प्रश्न वहां उठ सकते हैं। यदि इसे अविभ्रमस्वरूप माना जावे तो इस प्रकार की मान्यता में इस वाद पर तुषारपात होता है। क्योंकि इससे अतिरिक्त अविभ्रम की भी सिद्धि होती है। अतः "वादान्तरं किं" यदि "विभ्रमैकान्त स्वयं विभ्रमस्वरूप है" यह मान्यता स्वीकृत की जावे, तो विभ्रमैकान्त में स्वयं विभ्रमता आने से अवास्तविकता वहां सिद्ध होती है। अतः फिर भी "वादान्तरं किम्।"

अपि च—विविध अर्थों की सिद्धि ही यदि स्वभावैकान्त माना जावे, तो इसके ऊपर भी स्तुतिकार कहते हैं—इस प्रकार की मान्यता में भी इस स्वभावैकान्तवाद की सिद्धि नहीं होती

है। कारण कि स्वभावैकान्त की सिद्धि स्वभाव से मानने पर सो उस स्वभाव की सिद्धि में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की आवश्यकता पड़ेगी। बिना प्रमाण के यह स्वभाव सिद्ध नहीं हो सकता। सारांश, इसका यह है कि यदि स्वभावैकान्तवादी ऐसा कहे कि बालक आदि पदार्थों की स्वतंत्र सिद्धि होने से, अनेक प्रकार के कार्य कारण रूप पदार्थों की भिन्न भिन्न रूप में सिद्ध होती है। इनका यह स्वभाव कभी भी अन्यथा नहीं हो सकता है—अतः यही स्वभावतः पदार्थों की विविधार्थता स्वभावैकान्त है। सांख्य सिद्धान्तानुसार किन्हीं को केवल कारण, किन्हीं को केवल कार्य और किन्हीं किन्हीं तत्त्वों को उभय कार्य कारण रूप से स्वीकार किया गया है। इस रूप यह तत्त्वों का स्वभाव त्रिकाल में भी दूसरे रूप नहीं हो सकता। यही स्वभावैकान्तवाद है। इस पर स्तुतिकार का यह कहना है, कि नित्यादिक एकांतवाद के आश्रयण में विविधार्थ रूप कार्य कारण भाव की निर्णीति हो ही नहीं सकती है। यह पहिले प्रकट किया जा चुका है कि सर्वथा नित्य-वाद में अथवा सर्वथा अनित्यवाद में, कार्य कारण भाव अर्थक्रिया कारिता आदि कुछ भी किसी भी रूप में सुघटित नहीं होते हैं। परिणमनशील मानकर ही कथंचित् नित्य अनित्य पदार्थों में इनकी घटना घटित होती है। यदि इस पर फिर भी यह कहा जाय कि प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा ही पदार्थों के विविधार्थ रूप स्वभाव की प्रसिद्धि होती है, तो इस पर स्तुतिकार का यह कहना है कि इस प्रकार की मान्यता से स्वभावैकान्तवाद की ही सिद्धि

कैसे हो सकती है। कारण जब पदार्थों का विविधार्थरूप स्वभाव स्वभाव से ही प्रसिद्ध है, तो फिर इसे साधन करने के लिए प्रत्यक्षादि प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है। यदि इस स्वभाव की व्यवस्था करने के लिये उनकी अपेक्षा मानी जाती है, तो फिर इस प्रकार से स्वभावैकान्त रूप वादान्तर कैसे माना जा सकेगा ? यह तो सम्यग् अनेकान्तरूप वादान्तर ही सिद्ध माना जायगा।

येषामवक्तव्यमिहात्म-तत्त्वम्,
देहादनन्यत्व-पृथक्त्व-क्लृप्तेः ॥
तेषां ज्ञतत्त्वेऽनवधार्य तत्त्वे,
का बंध-मोक्ष-स्थितिरप्रमेये ॥१०॥

अन्वय—इह "देहात् अनन्यत्व-पृथक्त्वक्लृप्तेः आत्मतत्त्वं अवक्तव्यं" येषां मतं, तेषां मते अनवधार्यतत्त्वे अप्रमेये ज्ञतत्त्वे बंधमोक्षस्थितिः का।

अर्थ—इस नित्यैकान्तवाद में "शरीर से अभिन्न तथा भिन्न की कल्पना से, आत्म तत्त्व का निश्चय न हो सकने से, वह सर्वथा अवक्तव्य ही है" इस प्रकार जिनकी मान्यता है, उनके मत में, अनिश्चित स्वरूप होने पर, अप्रमेय इस आत्मतत्त्व में बंध और मोक्ष की व्यवस्था कैसे बन सकती।

भावार्थ—अवक्तव्यैकान्तवादी की, नित्यैकान्तवादी के प्रति ये दो कोटियां हैं। वह उससे यह पूछता है, कि नित्य

आत्मा देह से भिन्न है या अभिन्न ? यदि आत्मा को देह से सर्वथा अभिन्न माना जावे, तो देह के नाश से आत्मा के विनाश का प्रसंग होगा। ऐसी अवस्था में उसमें नित्यता कैसे आ सकती है ? दूसरे इस प्रकार की मान्यता अनिष्ट साधिका है क्योंकि नित्यैकान्तवाद के यह विपक्ष में जाती है। यदि देह से भिन्न आत्म तत्त्व की मान्यता स्वीकृत की जावे तो भी इसमें यह दोष आता है, कि देह के उपघात और अनुग्रह से दूसरे देह की तरह आत्मा को सुख दुःखादिक नहीं होने चाहिये। अतः ये दोनों पक्ष किसी भी अवस्था में सुसंगत नहीं बैठते। इसलिये देह से अनन्यत्व और अन्यत्व पक्षों में, पूर्वोक्त दोषों के अनुषग के भय से, यही एक निर्भय मार्ग है कि वह आत्मतत्त्व सर्वथा अवक्तव्यकोटि में स्थापित होता है। इसके माने बिना चारा नहीं।

इस अवक्तव्यैकान्त की मान्यतावालों के प्रति स्तुतिकार का यह कथन है, कि जब आत्मतत्त्व सर्वथा अवक्तव्यकोटि में आ जाता है, तो उसके स्वरूप का निश्चित अवधारण नहीं हो सकता है। क्योंकि इस अवस्था में वह सकलवाग् और विज्ञान के विषय होने से सर्वथा परे होजाता है। ऐसी स्थिति में, अप्रमेय बने हुए किसी भी प्रमाण का विषय नहीं होनेवाले, उस आत्मतत्त्व में बंध और मोक्ष की स्थिति, वन्ध्यापुत्र की तरह कैसे घटित हो सकती है ? क्योंकि इस स्थिति की वहां व्यवस्था करने पर वह कथंचित् वक्तव्य स्वरूप वाला सिद्ध होता है। जो तुम्हारी इस एकान्तता पर कुठाराघात का काम देता है। दूसरे सर्वथा

अवक्तव्यता वहां स्वीकार करने पर "वह सर्वथा अवक्तव्य है" इस शब्द से भी वह कैसे निर्देशित किया जा सकता है ? अतः यह मान्यता ठीक नहीं है।

इस प्रकार इन कारिकाओं (८,९,१०) में नित्यैकान्त की मान्यता को समंतदूषित प्रकट कर अब स्तुतिकार अनित्यैकान्त की मान्यता में समंतदोषयुक्तता प्रदर्शित करते हैं—

हेतुर्न दृष्टोऽत्र न चाप्यदृष्टो,
योऽयं प्रवादः क्षणिकाऽऽत्मवादः ।
न ध्वस्तमन्यत्र भवे द्वितीये,
संतान-भिन्ने न हि वासनाऽस्ति ॥११॥

अन्वय—"ध्वस्तं चित्तं अन्यत्र द्वितीये भवे न" यः अयं क्षणिकात्मवादः (सः) प्रवादः । अत्र दृष्टः अदृष्टः अपि हेतु न (संभवति) । संतानभिन्ने वासना न हि अस्ति ।

अर्थ—"विनष्ट चित्त दूसरे (उत्तर वर्ती) क्षण में नहीं रह सकता है" इस प्रकार जो बौद्धों का यह क्षणिक आत्मवाद है, वह केवल प्रवाद प्रमाण शून्यवाद प्रलापमात्र है। क्योंकि इस क्षणिकात्मवाद का ज्ञापक कोई हेतु नहीं है। इसकी सिद्धि करने में जो भी हेतु प्रदर्शित किया जायगा, वह दृश्य नहीं हो सकता। अदृष्ट भी वहां संभवित नहीं। संतानभिन्न चित्त में तो वासना वर्तित ही नहीं होती है।

भावार्थ—बौद्ध लोग चित्त के क्षणों की परम्परा को आत्मा मानते हैं। जिस प्रकार एक सूत का डोरा बहुत से मोतियों में प्रविष्ट होकर सब मोतियों की एक माला बनाता है, उस तरह बौद्धों के मत में, चित्त के सम्पूर्ण क्षणों के साथ सम्बन्ध रखने वाली किसी एक वस्तु को, आत्मा स्वीकार नहीं किया गया है। इसीलिये उनका यह मन्तव्य है कि प्रथम क्षण में ध्वस्त चित्त द्वितीय क्षण में नहीं रहता है। यदि रहता तो नित्यवाद की सिद्धि हो सकती थी। पदार्थों के क्षणिक होने पर भी, वासना से उत्पन्न होने वाले अभेदज्ञान से ही, समस्त व्यवहार चलता है। इस बौद्ध के कथन को लक्ष्य में रखकर स्तुतिकार का यहां यह कहना है कि "ध्वस्तं चित्तं अन्यत्र भवे न भवेत्" यह आप किस प्रमाण के आधार से कहते हैं। क्योंकि प्रमाण बिना कथन केवल न्याय मर्यादा के अनुसार प्रलाप मात्र माना जाता है।

बौद्ध—यह कथन निष्प्रमाण नहीं है। अतः प्रलाप मात्र कैसे हो सकता है।

जैन—प्रमाण उपस्थित कीजिये। वह कौनसा प्रमाण है।

बौद्ध—"सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् शब्दविद्युदादिवत्" जो सत् हैं वे सब शब्द एवं बिजली आदि की तरह क्षण विनश्वर हैं। आत्मा भी सत् है, अतः वह भी क्षण विनश्वर है। इस प्रकार इस क्षण-विनश्वरता का ज्ञापक यह स्वभाव हेतु है। इससे ही पदार्थों में क्षणिकता सिद्ध हो जाती है।

जैन—यह स्वभाव हेतु स्वयं प्रतिपत्ता द्वारा दृष्ट है अथवा अदृष्ट है ? दृष्ट यह माना नहीं जा सकता। क्योंकि क्षणिक सिद्धान्त की मान्यता में, अवलोकन के अनन्तर ही, इसका अभाव हो जाने से, अनुमान काल तक इसका अस्तित्व रह ही नहीं सकता है। जिस साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति पहिले जिस अनुमाता ने गृहीत की, उस अनुमाता का भी उस समय तक अस्तित्व नहीं रह सकता है। अतः यह हेतु दृष्ट होकर अनुमान का उत्थापक नहीं हो सकता। यदि अदृष्ट (कल्पनारोपित) हेतु को अनुमान का उत्थापक माना जावे, सो भी ठीक नहीं। कारण कि साध्य और साधन की जिस अनुमाता ने कल्पना की थी, वह भी उस समय तक ठहर नहीं सकती। अनुमान काल तक कल्पना की स्थिरता कल्पित करने पर तो, क्षणभंगवाद का दिवाला ही निकल जाता है। दूसरे, जिस अनुमाता को यह कल्पना रूप तरंग उठी, वह अनुमाता भी उस अनुमान काल तक ठहर नहीं सकता। इस प्रकार "सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्" यह स्वभाव हेतु किस प्रकार पदार्थों में क्षणिकता का साधक बन सकता है। कारण कि अनुमान का उत्थान किसी भी तरह से हेतु द्वारा, चाहे वह दृष्ट हेतु हो चाहे अदृष्ट हेतु हो, हो ही नहीं सकता। मतलब कहने का यह है कि साध्य के साथ अविनाभाव से जिसका निश्चय होता है, वही हेतु कहलाता है। इस प्रकार के साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है, वह अनुमान कहा गया है। प्रकृत में 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' यहां सत्त्व हेतु में साध्यावि-

नाभाविता है। यह किसने देखी-निश्चय की। बिना निश्चय हुए, हेतु अपने साध्य का गमक नहीं हो सकता। अन्यथा हर एक हर एक का हेतु मान लिया जायगा। प्रत्येक पदार्थ जब क्षणिक हैं, तो जिस समय विवक्षित साध्य साधन दोनों हैं ही नहीं, उनका तो निरन्वय विनाश हो ही चुका। अतः पूर्व दृष्ट साध्य साधन का उत्तरक्षण में सद्भाव न होने से और प्रतिपत्ता का भी सद्भाव न होने से अनुमान का उत्थान ही नहीं हो सकता। ऐसी हालत में "सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्" यह अनुमान निर्दोष कैसे माना जा सकता है? कल्पनारोपित हेतु भी इस अनुमान का उत्थापक नहीं हो सकता, क्योंकि कल्पना भी क्षणिक वस्तु है और कल्पयिता भी। अतः इस पक्ष में भी अनुमान का सद्भाव नहीं हो सकता।

बौद्ध—भले ही विवक्षित समय का साध्य साधन एवं इनकी दोनों की, व्याप्ति को ग्रहण करने वाला प्रतिपत्ता, प्रकृत अनुमान काल तक न रहे, इसकी क्या चिन्ता है, फिर भी अनुमान के उत्थान में कोई बाधा नहीं आ सकती, कारण कि प्रथम ही साध्य साधन की व्याप्ति ग्रहण करते समय अनुमाता के हृदय में इन दोनों की व्याप्ति की एक प्रकार की वासना जम जाती है, उसके बल पर प्रकृत अनुमान का उत्थान होता है।

जैन—यह कथन समझ में नहीं आता है। क्योंकि जिस पूर्व चित्त-अनुमाता ने पहिले उनकी व्याप्ति ग्रहण की थी वह

चित्त, और वर्तमान में जो अनुमान कर रहा है वह चित्त, सर्वथा भिन्न होने से, इनमें वासना का संबन्ध कैसे घट सकता है। जिस प्रकार देवदत्त और जिनदत्त के संतान भिन्न चित्त में एक में एक दूसरे के द्वारा देखी हुई वस्तु की वासना नहीं जमती है। उसी प्रकार पूर्व और उत्तर क्षण चित्त, जिनमें किसी भी प्रकार का संबन्ध है ही नहीं, उनमें भी वासना का संबन्ध कैसे माना जा सकता है? ऐसा तो कहीं पर भी नहीं देखा गया है, कि देवदत्त का चित्त तो साध्य और साधन की व्याप्ति गृहीत करे और जिनदत्त का चित्त साधन के देखने से अनुमापक बने। यदि ऐसा होता तो यह भी माना जाता कि पूर्वचित्त क्षण ने साध्य और साधन की व्याप्ति ग्रहण की और उत्तर क्षण ने उसके देखने से अनुमान किया। अतः यह निश्चित सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिये कि संतान भिन्न चित्त में वासना बन ही नहीं सकती। और न पूर्व उत्तर चित्त में कार्यकारण भाव एवं वास्य वासक भाव भी बन सकता है? इन सब बातों की वहां सिद्धि तब ही हो सकती है, जब वहां उनको जोड़ने वाली कथंचित् नित्य आत्मा की मान्यता स्वीकृत की जावे।

अतः स्तुतिकार ने यह ठीक कहा है-

तथा न तत्कारण-कार्य-भावाः,
निरन्वयाः केन समानरूपाः।

असत्खपुष्पं न हि हेत्वपेक्षं,
दृष्टं न सिद्धयत्युभयोरसिद्धं ॥१२॥

अन्वय—तथा न तत् कारणकार्यभावाः निरन्वयाः (ते) केन समानरूपाः (भवेयुः) असत्खपुष्पं हेत्वपेक्षं न हि दृष्टं । उभयोः असिद्धं न सिद्धयति ।

अर्थ—वासना की तरह पूर्व चित्त क्षण में और उत्तर चित्त क्षण में, कार्यकारण भाव नहीं बनता । अपने मूलरूप से ही नष्ट हो जाने वाले, उन चित्त क्षणों में किस स्वभाव से समान रूपता आ सकती है । असत्खपुष्प, हेतु की अपेक्षावाला नहीं देखा गया है । असत् होकर हेतु की अपेक्षा रखता हो, यह बात वादी और प्रतिवादी को सिद्ध नहीं है ।

भावार्थ—११ वें श्लोक में यह बात अच्छी तरह से प्रकट की जा चुकी है, कि संतान भिन्न पूर्वचित्त में और उत्तर चित्त में, वासना नहीं बन सकती है । उसी प्रकार उनमें कार्यकारण भाव भी नहीं बनता है । संतानभिन्न चित्त में भी यदि कार्य कारणभाव माना जावे, तो फिर इस प्रकार से देवदत्त और जिनदत्त के चित्तों में भी कार्यकारण भाव के मानने का प्रसंग भी स्वीकार कर लेना पड़ेगा । परन्तु ऐसी मान्यता न्याय मार्ग के प्रतिकूल है । यदि इस पर यह कहा जाय कि भिन्न संतानवर्ति असमान रूपवालों में कार्यकारण भाव नहीं बनता, क्योंकि यह तो एक संतानवर्ति समान रूप वाले चित्त क्षणों में ही घटित

होता है, इस पर स्तुतिकार का यह आक्षेप है कि जब ये चित्त क्षण निरन्वय रूप से क्षण विनश्वर है, तो फिर इनमें किस रूप से समानता आ सकती है। ये न तो सत्स्वभाव से अपने पूर्व पूर्व क्षणवर्ती चित्तों के साथ समान हो सकते हैं और न चित्स्वभाव से ही। कारण कि भिन्न संतानवर्तियों में भी तो, इस रूप का अस्तित्व होने से समानता आ सकती है। इस दोष से बचने के लिये "सद्धेतु अपेक्षत्वेन" जो अपनी उत्पत्ति में पूर्व पूर्व हेतु रूप उपादान कारण की अपेक्षा रूप से समान हों, अपनी उत्पत्ति में पूर्व पूर्व हेतु रूप उपादान कारण की जो अपेक्षा रखते हैं, वहीं पर समान रूपता है और इस रूपता वालों में ही कार्यकारण भाव घटित होता है, यह रूप भिन्न संतानवर्तियों में नहीं है "यदि ऐसा कहा जाय तो यह भी ठीक नहीं। कारण कि यहां पर दो विकल्प उठते हैं और वे इस प्रकार हैं, उत्तरचित्त अपनी उत्पत्ति में उत्पन्न सत् होकर पूर्वचित्तरूप हेतु की अपेक्षा रखता है या अनुत्पन्न असत् होकर ? यदि उत्पन्न सत् होकर हेतु की अपेक्षा रखता है, तो फिर एक तो क्षणिकवाद का अन्त इस मान्यता से होता है। दूसरे उत्पन्न सत् के लिये सर्व निराशंस होने से, अपनी उत्पत्ति में पूर्व कारण की अपेक्षा रखने वाला नहीं रहने से, पूर्व कारण रूप उपादान की अपेक्षा का विरोध आता है, क्योंकि जो उत्पन्न हो चुका है उसे हेतु की अपेक्षा की जरूरत ही क्या है। दूसरे पक्ष में जो अनुत्पन्न असत् है, वह आकाश पुष्प की तरह हेत्वपेक्ष ही नहीं होता है। जो असत् है, वह हेतु की

अपेक्षा वाला नहीं देखा जाता है। जैसे-आकाश कुसुम। आकाश कुसुम सर्वथा असत् है, अतः उसे अपनी उत्पत्ति में हेतु की अपेक्षा नहीं होती है। उसी प्रकार उत्पत्ति के पूर्व कार्यचित्त भी असत् है, अतः वह भी हेत्वपेक्ष नहीं हो सकता। असत् होकर भी जो हेतु की अपेक्षा वाला हो, ऐसा कोई सा भी पदार्थ वादी एवं प्रतिवादी दोनों की दृष्टि में प्रसिद्ध नहीं है, कि जिसे दृष्टान्त रूप में रखकर उसके बल से अनुत्पन्न उत्तर कार्य चित्त में हेत्व पेक्षतासिद्ध की जा सके। अतः हेत्वपेक्षिरूप से भी एक संतान-वर्तियों में समान रूपता सिद्ध नहीं होती है। समान रूपता सिद्ध नहीं होने से एक संतानवर्तियों में उपादान उपादेय लक्षण रूप कार्य कारण भाव कैसे सिद्ध हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

नैवास्ति हेतुः क्षणिकाऽऽत्मवादे,
न सन्नसन्वा विभवादकस्मात्।
नाशोदयैकक्षणता च दृष्टा,
संतानभिन्नक्षणयोरभावात् ॥१३॥

अन्वय—क्षणिकात्मवादे हेतुः नैव अस्ति। विभवात् अकस्मात् (सः) न सन् न वा असन्। संतानभिन्नक्षणयोः अभावात् नाशोदयैकक्षणता च दुष्टा।

अर्थ—क्षणिक आत्मवाद में कोई हेतु ही नहीं है। यदि उसका कबूल भी कर लिया जावे, तो वह सत् रूप है या असत्

रूप है। विभव का प्रसंग होने से वह सत् स्वरूप नहीं हो सकता। असत् स्वरूप मानने से आकस्मिकत्व की आपत्ति आती है। संतान के भिन्न दोनों क्षणों में नाश और उदय की एक क्षणता बनती नहीं है। संभवित नहीं होती है।

भावार्थ—१२ वीं कारिका में स्तुतिकार ने जो यह प्रकट किया है, कि असत् उत्तर क्षण हेत्वपेक्षी नहीं होसकता है, सो यह बौद्धों की पूर्वक्षण में हेतुरूप मान्यता को लेकर ही कहा है। वास्तव में तो बौद्धों की क्षणिकात्मदृष्टि में हेतु की सत्ता ही सिद्ध नहीं हो सकती है। इसी बात को स्तुतिकार ने इस श्लोक में कड़ी आलोचना पूर्वक प्रकट किया है। क्षणिकात्मवादी बौद्ध से वे सर्वप्रथम यह पूछ रहे हैं कि तुम जिस पूर्व चित्तक्षण को उत्तर चित्तक्षण का कारण-हेतु मानते हो वह सत् है या असत् है। यदि प्रथम पक्ष मान्य रखकर यह कहा जावे कि वह प्रथम चित्त सत् होकर ही उत्तर चित्तक्षण का हेतु होता है—तो फिर इस प्रकार के कथन से प्रथम चित्त रूप सत् हेतु से जो कि एक क्षणस्थायी है, एक ही क्षण में अपने कार्यरूप उत्तर चित्तक्षण की और उसी समय उससे भी अपने चित्तान्तर रूप कार्य की भी उत्पत्ति होने से सकलचित्त और उन चित्तों के क्षणों में एक क्षणवर्तित्व की उत्पत्ति होने पर एक ही साथ जगत में व्यापी चित्तों के सकल प्रकारों की सिद्धि होजाने से, जिसे तुम क्षणिक कहते हो, वह इस क्षणिक शब्द के द्वारा व्यापक ही नामान्तर से कहा गया सिद्ध होता है। दूसरे, एक क्षणवर्ती इस सत् हेतु

के पहिले और बाद में जगत चित्त शून्य ठहरता है। क्योंकि उस एक क्षणवर्ती प्रथम सत्स्वरूप चित्तक्षण से ही आगे पीछे के समस्त चित्तान्तरों की उत्पत्ति जो कर दी जाती है। इस प्रकार जब आगे पीछे कोई उद्भूत या उत्पद्यमान चित्तान्तर बचते ही नहीं हैं तो संतान निर्वाणलक्षण रूप जो मोक्ष की मान्यता बौद्ध सिद्धान्त में प्रकट करने में आई है, वह अब क्या है? समस्त जीवों को बिना किसी उपाय के ही प्राप्त होने लगेगी, फिर उसके लिये तपश्चर्या आदि उपाय करने की आवश्यता ही नहीं रहती, यह उपाय तो चित्त संतान की परपरा को रोकने के लिये ही किया जाता है। परन्तु इस पूर्वोक्त सत् हेतुवाद में वह चित्तसंतान परम्परा आगे पीछे अस्तित्व से ही शून्य हो जाती है। अतः उपाय करने की आवश्यकता ही क्या रहती है?

यदि इस विभव और अनुपाय सिद्ध मुक्ति प्राप्ति के दोष से बचने के लिये हेतु को असत् रूप माना जाय तो इसमें भी आकस्मिकत्वापत्ति कार्य में प्रसक्त होती है। अर्थात् बिना कारण के (कारण के अभाव में) कार्य की उत्पत्ति होने लगेगी, अतः कार्य कारण व्यवस्था का लोप ही हो जायगा। यदि कार्य कारण व्यवस्था बनाने के लिये यह कहा जाय कि "यस्य नाश एव कार्योत्पादः स तद्धेतुः" जिसका विनाश ही कार्य का उत्पाद है, वही उसका हेतु है। क्योंकि नाश और उत्पाद का भिन्न समय नहीं है। ऐसा नहीं है कि प्रथम क्षण में कार्य का

नाश हो और द्वितीय क्षण में कार्य का उत्पाद हो, इस अपेक्षा से असत् रूप होकर ही कारण अपने कार्य का हेतु प्रसिद्ध होता है सो यह कथन भी ठीक नहीं। कारण कि संतान के पूर्व और उत्तर रूप से भिन्न क्षणों में नाश और उदय की एक क्षणता नहीं है। सुषुप्ति संतान का पूर्वक्षण जाग्रत अवस्था है और उत्तर क्षण प्रबुद्ध अवस्था है। सुषुप्ति अवस्था में इन दोनों क्षणों का अभाव है। न उस समय जाग्रत अवस्था है और न प्रबुद्ध अवस्था। यदि यह सिद्धान्त ही अंगीकृत कर लिया जाय कि "यस्य नाश एव कार्योत्पादः स तद्धेतुः" तो जाग्रत चित्त का नाश भी प्रबुद्ध चित्त का उदय रूप होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि इन दोनों में मुहूर्तादि रूप अनेक क्षण का व्यवधान है। इसलिये बौद्धमान्यतानुसार जाग्रत चित् में जो प्रबुद्ध चित् के प्रति कारणता प्रदर्शित की जाती है वह नहीं बन सकती, क्योंकि जाग्रत चित् का विनाश प्रबुद्ध चित का उदय नहीं है। अतः नाश और उदय में जो एक क्षणता मानकर कार्य कारण की पुष्टि बौद्ध करना चाहता था, वह संतान के काल व्यवहित भिन्नक्षणों में, नाश और उदय में एक क्षणरूपता दूषित सिद्ध होने से न्याय संगत नहीं है।

अतः असत् हेतु नहीं हो सकता, अन्यथा कार्य में आकस्मिकता का इस प्रकार से दुर्निवार प्रसंग आकर उपस्थित हो जाता है।

कृत-प्रणाशाऽकृत-कर्म-भोगौ
स्यातामसंचेतित-कर्म च स्यात्
आकस्मिकेऽर्थे प्रलयस्वभावे
मार्गो न युक्तो वधकश्च न स्यात्॥१४॥

अन्वय-प्रलय स्वभावे आकस्मिकेऽर्थे कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगौ स्याताम्। च असंचेतित-कर्म स्यात्। मार्गो न युक्तः। वधकश्च न स्यात्।

अर्थ—प्रलय स्वभाव रूप आकस्मिक पदार्थ के मानने पर कृत कर्म के फल के उपभोग का अभाव तथा अकृत कर्म के फल के उपभोग का सद्भाव दुर्निवार होगा। कर्म को असंचेतित मानना पड़ेगा। मुक्ति का मार्ग भी युक्त नहीं ठहर सकेगा। इसी प्रकार कोई वधक-हिंसक भी तुम्हारी इस मान्यता में सिद्ध नहीं हो सकेगा।

भावार्थ—बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार नाश निष्कारणक[१] माना जाता है। अतः जिस प्रकार पदार्थ प्रलय-विनाश स्वरूप है, यह प्रलय किसी कारण से वहां उद्भूत नहीं होता है, किन्तु स्वतः स्वभाव से ही पदार्थों में होता रहता है। अतः यह पदार्थों में आकस्मिक कहा जाता है। उसी प्रकार कार्य भी आकस्मिक है। यह भी किसी हेतु से नहीं होता। अतः बौद्ध प्रलयस्वभाव के बल पर-प्रलय स्वभाव के निदर्शन से, कार्य में निर्हेतुकता सिद्ध

१—देखो अष्टसहस्री पाना १८४।

करता है। इससे उसने असत् हेतुवाद की ही अपनी मान्यता की पुष्टि की है। इस पर स्तुतिकार का यह आक्षेप है "कि यदि प्रलय विनाश सर्वथा निर्हेतु के ही अंगीकार किया जावे तो" जिस पूर्व चित्त ने जो भी शुभ अशुभ कर्म किये हैं, उनका शुभाशुभ फल उसको नहीं भोगना पड़ेगा, कारण कि उसका तो उस कर्म करते करते ही निरन्वय नाश हो जायगा। आगे जो उत्तर चित कि जिसने ये कर्म नहीं किये उसे पूर्वचित्त द्वारा अर्जित उन पूर्वोक्त शुभाशुभ कर्मों का फल भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार जिस पूर्वचित्त ने कर्मों को बुद्धि पूर्वक एकत्रित-चेतित किया उसके सर्वथा–निरन्वय प्रलय हो जाने से, दूसरे उत्तर चित्त के द्वारा वे कर्म असंचेतित–अबुद्धिपूर्वक अर्जित कहलावेंगे। तथा सकल आस्रव के निरोध लक्षणरूप मोक्ष अथवा चित्त परम्परा के विनाश रूप शांत निर्वाण का नैरात्म्यभावना लक्षण रूप हेतु जो तुम्हें इष्ट है, सो यह बात भी इस निर्हेतुकवाद में कैसे सिद्ध हो सकेगी। अथवा जब तुम्हारी मान्यतानुसार नाशक कोई है ही नहीं, तब चित्त-संतति का नाश भी नैरात्म्यभावना रूप हेतु से क्योंकर हो सकेगा? क्योंकि निर्हेतुक विनाश में ऐसा कथन विरोधी होता है। अन्यथा सहेतुक प्रलय सिद्ध होगा। इसी प्रकार कोई किसी का वध करने वाला भी नहीं माना जायगा। क्योंकि पदार्थ का स्वभाव ही स्वतः प्रलयस्वरूप है। दूसरे जिसने वध किया, वह भी प्रलय स्वभाव होने से द्वितीयादिक क्षण में

स्थिर रहेगा नहीं, फिर दंड व्यवस्था किसके लिये की जायगी। इत्यादि और भी अनेक दोष इस मान्यता में आते हैं।

न बंधमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ,
न संवृतिः साऽपि मृषास्वभावा।
मुख्यादृते गौणविधिर्न दृष्टो
विभ्रान्तदृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या ॥१५॥

अन्वय—बंधमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ न (स्याताम्)। (तत्र) संवृतिः न, सापि मृषास्वभावा। मुख्यात् ऋते गौणविधिः न (दृष्टः)। (अतः) तव दृष्टितः अन्या विभ्रान्तदृष्टिः।

अर्थ—बन्ध और मोक्ष क्षणिक एक चित्त में नहीं बन सकते हैं। कल्पना से भी उनकी सिद्धि नहीं होती है क्योंकि वह कल्पना मृषा स्वभाव वाली है। यदि उसे गौणविधि रूप माना जाय तो मुख्य के बिना गौणविधि बनती हुई कहीं देखी नहीं गई है। इसलिये अबाधित आपकी दृष्टि के सिवाय अन्य क्षणिकात्मवाद रूप दृष्टि सदोष होने से अबाधित-सम्यक् नहीं है।

भावार्थ—१४वें सूत्र में यह बात स्पष्ट कर दी गई है, कि पदार्थ को आकस्मिक प्रलय स्वभाव मानने में क्या २ आपत्तियां आ सकती हैं। उसी विषय में और भी जो आपत्तियां आ सकती हैं, उन्हें स्तुतिकार यहां स्पष्ट कर रहे हैं।

१—स्याद्वादमंजरी मे इससे मिलती जुलती यह १८वीं कारिका है।
कृतप्रणाशाऽकृतकर्मभोग, भवप्रमोक्षस्मृतिभंगदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभंगमिच्छन्, अहोमहासाहसिकः परस्ते॥

जहां बन्ध होता है वहीं मोक्ष होता है। बन्ध और मोक्ष एकसंस्थ है। ऐसा नहीं है कि बन्ध-कर्त्ता अन्य हो और बन्ध के अभाव से होने वाली मुक्ति का प्रापक अन्य हो। यदि पदार्थ में प्रलयस्वभाव आकस्मिक माना जाय, तो जिस पूर्वचित्त में बंध हुआ है, उसको प्रथम क्षण में ही निरन्वय विनाश हो जाने से, मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। जो अबद्ध है उसे ही द्वितीयक्षण में मुक्ति का प्रसंग मानना पड़ेगा। इस प्रसंग को दूर करने के लिये यदि यह कहा जाय, कि बन्ध और मोक्ष पूर्वचित्त और उत्तरचित्त में एकत्व का आरोप कराने वाली विकल्पात्मक संवृति से एकसंस्थ सिद्ध हो जायेंगे, सो यह भी ठीक नहीं, कारण कि इस प्रकार के संवृत्यात्मक आरोप से वे एक संस्थ सिद्ध नहीं हो सकते। जिस संवृत्ति से तुम उन्हें एक-संस्थ सिद्ध करना चाहते हो, वह संवृति-कल्पना मृषा स्वभाव है, कि गौण विधि रूप है। प्रथम मान्यता में क्षणिक एकचित्त में संस्थित बंध और मोक्ष में मृषत्व की ही प्रसक्ति होती है।

क्योंकि जो स्वयं मृषास्वरूप है, वह अपने विषयभूत में अमृषात्मकता (यथार्थता, सत्यार्थता) कैसे सिद्ध कर सकती है? कहीं चोर के कहने से भी दूसरे चोरों में सत्यार्थता आ सकती है? यदि वह संवृति गौणविधि रूप अंगीकृत की जाय, तो यह तुम्हें मानना पड़ेगा कि बिना मुख्य के गौणविधि होती नहीं है। मुख्य सिंह के अभाव में कहीं भी गौण-सिंहविधि का आरोप नहीं होता है। अतः बन्ध और मोक्ष भी क्वचित् एकचित्त संस्थ हैं,

ऐसी ही मान्यता इस गौणविधि रूप संवृत्ति से सिद्ध हुई स्वीकृत करनी पड़ेगी। अन्यथा मुख्यविधि के अभाव में, यह गौणविधि रूप संवृत्ति, बन्ध और मोक्ष को एकचित्त संस्थ सिद्ध नहीं कर सकती है। इसलिये हे स्याद्वादरूप अमृत के समुद्र वीर प्रभो ! आपकी स्याद्वादशैली रूप दृष्टि ही यथार्थ में अबाधित है, इससे भिन्न क्षणिक आत्मवादियों की एकान्तदृष्टि, विभ्रान्त यथावस्थित वस्तु के स्वरूप प्रतिपादन करने में सर्वथा सदोष होने से बाधित है।

प्रति-क्षणं भंगिषु तत्पृथक्त्वात्,
न मातृ-घाती स्व-पतिः स्व-जाया।
दत्त-ग्रहो नाऽधिगत स्मृतिर्न
न क्त्वाऽर्थ-सत्यं न कुलं न जातिः ॥१६॥

अन्वय—प्रतिक्षणं भंगिषु तत्पृथक्त्वात् मातृघाती स्वपतिः स्वजाया न। न दत्तग्रहः, न अधिगतस्मृतिः, न क्त्वार्थसत्यं, न कुलं न जातिः।

अर्थ—क्षण क्षण में पदार्थों को निरन्वय विनाश स्वरूप मानने पर, पूर्व और उत्तर क्षणों में उनके सर्वथा भिन्न होने की वजह से न तो कोई मातृघाती बन सकता है, न कोई कुल कामिनी का पति बन सकता है, न कोई अपनी विवाहिता स्त्री ही साबित हो सकती है। कर्ज में दिये गये धनादिक का पुनः वापिस लेना

भी नहीं बन सकता है। पठितशास्त्रों की स्मृति भी नहीं आ सकती है। क्त्वा प्रत्यय का मत्यार्थ भी घटित नहीं हो सकता है। न कुल बन सकता है और न जाति ही बन सकती है।

भावार्थ—"क्षण क्षण में प्रत्येक पदार्थ निरन्वय विनाशी है" इस प्रकार की बौद्ध मान्यता है। इस पर स्तुतिकार का यह संगत कथन है, कि इस प्रकार की मान्यता में बौद्धों की दृष्टि में माता को मारने पर भी कोई भी व्यक्ति अपनी माता का घात कर्त्ता सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जिस समय वह उससे उत्पन्न हुआ उसी समय ही क्षणिक होने की वजह से माता का स्वयं विनाश हो चुका। तथा जो भी पुत्र उससे उत्पन्न हुआ, उसका भी तदनन्तर क्षण में विनाश हो गया। इससे वहां न कोई माता है और न कोई पुत्र ही है। अपुत्र का ही उत्पाद हुआ मानना चाहिये। जिस व्यक्ति के साथ जिस कुल स्त्री का सम्बन्ध होता है वह उसकी स्त्री और वह उसका पति कहा जाता है ऐसा व्यवहार है। क्षणिक पदार्थ में यह व्यवहार नहीं बन सकता। क्योंकि जिस व्यक्ति ने उसे विवाहा है, वह तो क्षणिक होने की वजह से नष्ट ही हो चुका, अब तो कोई दूसरा ही उसका पति बना हुआ है। तथा जिस स्त्री को उसने विवाहा है, वह भी वह स्त्री नहीं है, वह तो कभी की नष्ट हो चुकी है। जिसे ये पकड़े हुए है, यह तो कोई दूसरी अविवाहिता ही है। उसके साथ सम्बन्ध करने से परदारिका सेवन का दोष आता है। कर्जदार को धनी रुपया ब्याज पर देता है। अवधि पूर्ण होने पर फिर उससे वापिस

से लेता है। इस प्रकार की व्यावहारिक पद्धति है, परन्तु क्षणिक सिद्धान्त में यह पद्धति सिद्ध ही नहीं हो सकती है। क्योंकि जिसने कर्ज लिया है, वह भी नष्ट हो चुका और जिसने दिया है, वह भी नष्ट हो चुका, ऐसी हालत में न कोई देने वाला है, और न कोई लेने वाला है। ये दोनों सर्वथा परस्पर में भिन्न २ हैं। अब कौन किससे कर्ज मांगे और कौन किसे उसे दे। पठित शास्त्रों की स्मृति कर लोग अन्य की शंकाओं का निरसन करते हैं। किसी विषय में किसी को संदेह होने पर, उस विषय के ज्ञाता जन, बात नहीं मानने पर शास्त्रों से उसे समाधान कर दूसरों को समझाते हुए देखे जाते हैं। परन्तु बौद्धों की इस प्रकार की मान्यता में यह बात नहीं बन सकती है क्योंकि जिसने शास्त्र का अध्ययन किया है, वह तो विनष्ट हो चुका। वर्तमान में अनध्येता ही व्यक्ति मौजूद है। भला, उसे शास्त्र की स्मृति कैसे आ सकती है? "क्त्वार्थं सत्यं" यहां पर राजदंतादि गण में पाठ होने से सत्य पद का पर निपात हुआ है। लोक में "भुक्त्वा व्रजति" खाकर के जाता है, ऐसे एक कर्तृत्व शब्दों का प्रयोग होता है। जो खा चुका है, वही जाता है। यहां खाना और जाना इन दो क्रियाओं का कर्ता एक ही व्यक्ति है। भिन्न भिन्न व्यक्ति नहीं। विषय और विषयी को प्रतिक्षण भंगस्वभाव मानने पर, अब यह क्त्वा का सत्य अर्थ घटित नहीं हो सकता। क्योंकि खा करके जाने वाला व्यक्ति इस मान्यता के अनुसार है ही नहीं। जिसने खाया है, वह तो उसी क्षण में ध्वंसित हो चुका है।

आने रूप क्रिया करने के समय में अब तो दूसरा ही—नहीं खाकर के जाने वाला व्यक्ति है। सूर्यवंश आदि का नाम कुल है। जिस कुल में वह उत्पन्न हुआ, वह तो उसके उत्पन्न होते ही निरन्वय विनष्ट हो चुका तथा उसमें जन्म लेने वाला भी वह यह नहीं है, यह भी कोई दूसरा ही है। अतः इस जगत में कोई से भी कुल की सत्ता न रहने से कुल का अस्तित्व कैसे रह सकता है। इसी प्रकार क्षत्रियत्वादिक—अक्षत्रिय व्यावृत्तिरूप अन्यापोहात्मक-जाति की भी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती है। क्योंकि उस अतद्व्यावृत्ति को ग्रहण करने वाले एक चित्त की सत्ता ही इस निरन्वय विनाश की मान्यता में संभावित नहीं होती है।

किञ्च—

न शास्तृ-शिष्याऽऽदि-विधि-व्यवस्था,
विकल्प-बुद्धिर्वितथाऽखिला चेत्।
अतत्त्व-तत्त्वाऽऽदि विकल्प-मोहे
निमज्जतां वीत-विकल्प-धीः का ॥१७॥

अन्वय—शास्तृ-शिष्यादिविधिव्यवस्था न। चेत् अखिला बुद्धिः वितथा (तर्हि) अतत्त्वतत्त्वादिविकल्पमोहे निमज्जतां वीत-विकल्पधीः का (अस्ति)।

अर्थ—पदार्थों को प्रतिक्षण निरन्वय विनाशशील मानने में 'शास्ता एवं शिष्य आदि के स्वभाव' की अन्यव्यवच्छेद पूर्वक

अवस्था, व्यवस्था भी नहीं बनती है। यदि समस्त विकल्प बुद्धि मिथ्या अवास्तविक मानी जावे, तो अतत्त्व और तत्त्वादिक के मोह में डूबे हुए बौद्धों के यहां विकल्प से रहित बनती कौनसी है।

भावार्थ—यह शास्ता सुगत है, ये विनेयजन उसके शिष्य हैं, इत्यादि शासक शास्य स्वभाव की, अन्य कपिलादिकों में शास्तृत्व एवं उनके विनेयजनों में तच्छिष्यत्व के निरसन पूर्वक जो बौद्ध सिद्धान्त में मान्यता है, वह पदार्थों के निरन्वय विनाशशील मानने में बन नहीं सकती। कारण कि ऐसी मान्यता में कोई एक ऐसा शासक नहीं बन सकता है, जो स्वयं तत्त्वदर्शन कर, उसे पर के अनुग्रह की कामना से, प्रतिपादन करने के समय तक स्थिर रह सके। तथा शिष्य भी ऐसा कोई साबित नहीं है, जो शासन-शुश्रूषा, शासनश्रवण, शासन ग्रहण, शासनधारणा एवं शासन अभ्यसन आदि काल तक स्थिर ठहर सके। अतः यह शास्ता है, मैं शिष्य हूँ, इस प्रकार की प्रतिपत्ति जब किसी में घट नहीं सकती है, तो फिर शास्तृशासक स्वभाव की व्यवस्था कैसे बन सकती है ? इसी प्रकार सूत्रस्थ आदि पद से गृहीत स्वामिभृत्य, जनक तनय एवं नाती–पितामह आदि रूप विधि व्यवस्था भी नहीं बन सकती है। यदि इस विषय में बौद्धों की ओर से यह कहा जाय कि "यद्यपि हम लोग बहिः स्वलक्षणों एवं अन्तः स्वलक्षणों को प्रतिक्षण विनाशशील स्वीकार करते हैं, अतः परमार्थ दृष्टि से मातृघाती एवं शास्ता शास्य आदि विधि की व्यवस्था रूप

व्यवहार संभवित नहीं होता है, फिर भी इस व्यवहार रूप विधि व्यवस्था का हेतु एक विकल्प बुद्धि है। इस विकल्प बुद्धि का कारण अनादि वासना है। विकल्प बुद्धि सब मिथ्या हैं। कारण कि इनका विषय मिथ्या है" तो इस विषय में हम पूछते हैं, कि तत्त्व और अतत्त्व आदि रूप विकल्प के मोह में डूबे हुए आप लोगों के यहां कौनसी ऐसी बुद्धि है, जो सकल विकल्प रहित होकर यथार्थ (स्वलक्षण) विषय वाली होती हुई प्रमाणभूत मानी गई हो। मातृघाती इत्यादिक समस्त विकल्पात्मक बुद्धियां अतत्त्व हैं, इससे भिन्न बुद्धियां तत्त्व हैं, इस प्रकार की व्यवस्था केवल एक विकल्प वासना के बल पर ही आधारित है। दूसरे, संवृति से अतत्त्व की, परमार्थ से तत्त्व की व्यवस्था भी विकल्प बुद्धि द्वारा ही घटित की गई है। ज्ञेय वस्तु के बल से नहीं। अतः यह विकल्प मोह तो भाई! तुम्हारे यहां समुद्र की तरह दुष्पार प्रसक्त होता है। "लोकसंवृति सत्य दूसरे परमार्थ सत्य को लेकर बुद्धों की धर्मदेशना हुई है" इस विभाग में भी विकल्प मात्र प्रभवता होने से तात्त्विकता नहीं आ सकती। "जिसमें किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं एवं जो केवल स्वलक्षण (विशेष) को ही विषय करती है ऐसी विकल्पातीत–निर्विकल्पक, बुद्धि ही तात्त्विक है" इस प्रकार की मान्यता जब संभवित ही नहीं होती है, तो उसके इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष इस प्रकार के भेद से ४ भेदों का कथन करना, यह व्यवस्था बन भी कैसे सकती है। "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं" यह प्रत्यक्ष का सामान्यलक्षण एवं

इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, इत्यादि विशेष प्रत्यक्षों का विशेष लक्षण ये सब कथन विकल्प स्वरूप हैं। अतः तुम्हारे ही सिद्धान्तानुसार इस लक्षण कथन में अवास्तविकता ही आती है। फिर कैसे अवास्तविक लक्षण से वास्तविक लक्ष्य लक्षित हो सकता है। नहीं हो सकता। अन्यथा अतिप्रसंग दोष की आपत्ति आने से लक्ष्य लक्षण व्यवस्था सर्वथा घटाले में पड जावेगी।

अनर्थिका साधन-साध्य-धीश्चेत्,
विज्ञान-मात्रस्य न हेतु-सिद्धिः।
अथाऽर्थवत्त्वं व्यभिचार-दोषो
न योगि-गम्यं पर-वादि-सिद्धम् ॥१८॥

अन्वय—विज्ञानमात्रस्य (सिद्धौ) चेत् साधनसाध्यधीः अनर्थिका (स्यात्तर्हि) हेतुसिद्धिः न। अथ अर्थवत्त्वं व्यभिचार-दोषः। योगिगम्यं पर-वादिसिद्धं न (भवति)।

अर्थ—विज्ञानमात्र की सिद्धि करने में यदि साधन और साध्य बुद्धि को अनर्थक–निर्विषय माना जावे, तो हेतु की सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि उसे सार्थक माना जाय तो व्यभिचार दोष आता है। योगी प्रत्यक्ष मानने से, पर वादियों को तो वह सिद्ध नहीं मानी जा सकती।

भावार्थ—विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध की यह मान्यता है, बाह्य स्वलक्षण घटपटादिक पदार्थ, जब ज्ञान के विषय होंगे तो नियम

से उन्हें विषय करने वाले ज्ञान में, कल्पना–रूप विकल्प का प्रादुर्भाव होगा ही। ऐसी तो कोई बुद्धि है ही नहीं, जो बाह्य पदार्थ को विषय करते हुए कल्पना रूप विकल्प से विकल हो। परन्तु जितनी कल्पनात्मक बुद्धियां हैं, वे सब स्वप्न बुद्धि की तरह निःसार-भ्रान्त हैं। ज्ञान में जो कुछ प्रतिभासित होता है, वह सब ज्ञान स्वरूप ही है। चित्त ज्ञान ही घट पटादि अनेक रूप से प्रतिभासित होता है। बाह्य अर्थ–घट पट आदि पदार्थ कुछ नहीं है। अवयव अथवा अवयवी रूप से उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता है। अतः यह मान लेना पड़ता है, कि जो कुछ भी घट पट आदि आकार रूप से प्रतिभासित होता है, वह सब स्वयं प्रतिभास विज्ञान स्वरूप है। क्योंकि "न चाविज्ञानं प्रतिभासते जडस्य प्रतिभासायोगात्" जो भी बाह्य अर्थ है वह सब जड़ स्वरूप है। जड़ पदार्थ का अविज्ञान रूप होने से प्रतिभास हो नहीं सकता है। प्रतिभास तो ज्ञान स्वरूप का होता है। अतः "यत्प्रतिभासते तत् ज्ञानमात्रमेव, यथा विज्ञानस्वरूपं", जिस प्रकार प्रतिभासित होने से ज्ञान का स्वरूप स्वयं ज्ञानरूप माना जाता है, उसी प्रकार घटपटादिक पदार्थ भी प्रतिभासित होने से ज्ञानस्वरूप हैं। प्रमाणवार्त्तिकालंकार के कर्त्ता प्रज्ञाकर गुप्त ने भी तो यही कहा है "यदि संवेद्यते नीलं, कथं बाह्यं तदुच्यते। न चेत् संवेद्यते नीलं, कथं बाह्यं तदुच्यते" यदि नील का प्रतिभास होता है, तो वह बाह्य पदार्थ कैसे कहा जा सकता है? वह तो प्रतिभास स्वरूप होने से स्वयं प्रतिभासात्मक माना जायगा। यदि

मील का प्रतिभास नहीं होता है तो उसे बाह्य पदार्थ कैसे कह सकते हैं। यदि कोई यहां पर यह शंका करे, कि जब बाह्य पदार्थ है ही नहीं, तो उसका प्रतिभास क्यों होता है, तो इस शंका का समाधान इस प्रकार है जैसे बाह्य केश पदार्थ के आलम्बन के अभाव में, आकाश में केश का ज्ञान होता है अथवा स्वप्नावस्था में जैसे स्वप्न ज्ञान होता है, वैसे ही अनादिकालीन अविद्या वासना के कारण बाह्य पदार्थों के आलम्बन के बिना ही घट पट आदिक पदार्थों का ज्ञान होता है। इसमें प्रमाण यह है बुद्धि में प्रतिभासित होने वाला पदार्थ बुद्धि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अनुभव भी बुद्धि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ग्राह्य ग्राहक भाव रहित एक बुद्धि का ही प्रतिभास होता है। घट पटादिक बाह्य पदार्थों की कल्पना मूर्ख पुरुषों की बुद्धि का परिणाम है। वस्तुतः विचार किया जाय तो अनादिकाल की अविद्या वासना के बल पर ही चित्त नाना रूप से प्रतिभासित[1] होता है।

इस विज्ञानाद्वैतवादी के अभिप्राय को चित्त में रखकर सूत्रकार ने इस कारिका द्वारा इनके अभिमत में निःसारता का प्रदर्शन किया है। वे उसके समक्ष तर्क उपस्थित करते हुए पूछते

---

१. नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयाऽस्ति, तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्, स्वयं सैव प्रकाशते ॥
बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो, यथा बालैर्विकल्पते।
वासना लुठितं चित्त, मर्थाभासे प्रवर्तते ॥

है, कि तुम जो इस प्रकार से विज्ञानाद्वैतवाद की एकान्त सिद्धि करना चाहते हो, तो इसमें पहिले यह बतलाओ कि यह सिद्धि सहेतुक है या निर्हेतुक है। सहेतुक की मान्यता में साध्य और साधन की बुद्धि सिद्ध होती है। इस प्रकार केवल विज्ञानाद्वैतवाद का समर्थन नहीं हो सकता है। साध्य साधन बुद्धि की स्वीकृति में द्वैतापत्ति जो आ जाती है। कारण कि विज्ञानाद्वैत की सिद्धि में जो भी हेतु दिया जायगा, वह साध्य साधन बुद्धि के साथ अविनाभावी होगा। यदि इस द्वैतापत्ति रूप आपत्ति को हटाने के लिये साध्य साधन बुद्धि को अनर्थक माना जाय, तो फिर "यत् प्रतिभासते तत् विज्ञानमात्रं, यथा प्रतिभासस्वरूपं" इस अनुमान में "प्रतिभासमानत्व" रूप हेतु की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा स्वसिद्धान्त की सिद्धि दूसरों के लिये सिद्ध हुई नहीं मान्य होती है। यह क्रम तो अनुमान का है। वही अपने सिद्धान्त को दूसरों के प्रति सिद्ध करता है। जब अनुमान में साध्य और साधन की बुद्धि अनर्थक मानी जाती है तो उस बुद्धि के विषय साध्य और साधन भी अनर्थक ही माने जायेंगे। इस प्रकार विज्ञान–मात्र साध्य की सिद्धि के लिये प्रदत्त प्रतिभासमानत्व रूप हेतु, सार्थक सिद्ध कैसे माना जा सकता है? नहीं माना जा सकता। अतः असमर्थित इस हेतु से अपने साध्य की सिद्धि कैसे की जा सकती है।

यदि च—हेतु की सिद्धि के लिये यह कहा जाय कि साध्य और साधन की बुद्धि सार्थक है, तो फिर भी इसी प्रकार की

मान्यता से विज्ञानाद्वैतवाद की मान्यता सिद्ध नहीं हो सकती. कारण कि इस मान्यता में व्यभिचार दोष आता है। वह इस प्रकार से–"यत्प्रतिभासते तत् विज्ञानस्वरूपं" यह आपकी व्याप्ति है, इस व्याप्ति द्वारा "जो भी प्रतिभासित होगा वह सब विज्ञान स्वरूप ही होगा अविज्ञान स्वरूप नहीं। क्योंकि अविज्ञान स्वरूप का प्रतिभास नहीं होता" यही बात स्पष्ट रूप से प्रदर्शित की जा रही है। इसी पक्ष पर आप डटे हुए हैं। अब विचारने की बात यह है कि जब साध्य और साधन की बुद्धि का विषय साध्य और साधन ये दो पदार्थ वास्तविक हैं और इन्हीं को लेकर वह साध्य और साधन बुद्धि सार्थक मानी जा रही है, तो फिर यह व्याप्ति तो नहीं बनी कि जो प्रतिभासित होता है वह विज्ञान स्वरूप होता है, विज्ञान से बाह्य नहीं होता है। क्योंकि यहां साध्य साधन अपनी २ बुद्धि में प्रतिभासित तो हो रहे हैं, पर वे स्वयं ज्ञान स्वरूप नहीं है। विज्ञान से बाह्य हैं। अन्यथा साध्य साधन बुद्धि का सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार से अनुमान में सालम्बनता सिद्ध होने से आप जो सालम्बनत्व रूप हेतु से ज्ञान में निरालम्बनता सिद्ध करना चाहते हैं, उसमें यह संशय उपस्थित हो जाता है कि जिस प्रकार अनुमान ज्ञान अपने साध्य के विज्ञानाद्वैत के साथ सालम्बन–आलम्ब सहित है उसी प्रकार प्रकृत ज्ञान–घट पटादिक का ज्ञान भी अपने विषय–साध्य के साथ आलम्बन सहित है। अतः जब प्रवृत्त घटपटादिक का ज्ञान घट पटादिक रूप अपने विषय से समन्वित है, घट पटादिक विषय

ज्ञान स्वरूप नहीं है, ज्ञान से बाह्य है. ऐसी हालत में उन्हें ज्ञान-स्वरूप मानकर, ज्ञान में बाह्य पदार्थों की तरफ से निरालंबनता का पर के लिये प्रतिपादन करना यह एक महान दोष है। यह पक्षपात की बात है, जो अपनी ही बात की पुष्टि करना और प्रमाण सिद्ध दूसरे की बात की तरफ ध्यान ही नहीं देना। इस प्रकार के कथन से स्वाभिमत की सिद्धि न होकर, उल्टे संशयवाद की पुष्टि होती है। अर्थात् इस कथन से श्रोता के मन में संशयभाव की जागृति होती है। वह इस प्रकार से—जब अनुमान ज्ञान अपने विषय को आलंबन सहित मान लिया जाता सिद्ध होता है तो उसी प्रकार प्रकृतज्ञान भी सालम्बन क्यों नहीं सिद्ध होगा—अवश्य होगा। पर जब आपकी प्रकृत ज्ञान के प्रति ऐसी मान्यता ही नहीं है—तब यह बात स्वाभाविक है, कि श्रोता जन इस प्रकार संशय में पड़ सकते हैं कि हम इस विज्ञानाद्वैतवाद को अनुमान ज्ञान की तरह स्वावलम्बन मानें या प्रकृतज्ञान की तरह निरालम्बन मानें? जब आप प्रतिभासमानत्वरूप हेतु से समस्त वस्तुओं में विज्ञानस्वरूपता साध्य करते हैं—तो "यत्प्रतिभासते तद्विज्ञानमात्रं" यह अनुमान परमार्थ प्रतिभासी—परार्थानुमानरूप-होने से वचन स्वरूप माना जायेगा। ऐसी हालत में यह विज्ञान मात्र सिद्ध नहीं हो सकता, उससे भिन्न ही सिद्ध होता है। इस प्रकार यहां प्रतिभास मानत्व रूप हेतु के सद्भाव होने पर भी, विज्ञान स्वरूप सिद्ध नहीं होती है। अन्यथा इसमें साध्य समता आ जाने से साध्य साधन भाव ही नहीं बन सकता।

यदि यहां पर यह कहा जाय कि साध्य साधन भाव यदि नहीं बनता है, तो भले न बनो, क्योंकि अब हम विज्ञानाद्वैत मात्र की ही सिद्धि करना चाहते हैं तो साधन भी साध्यान्तःपाती होने से, साध्य समूह हो ही जाता है। अतः इस विज्ञानाद्वैतवाद की सिद्धि में विचार करने पर कोई साधन ही नहीं बनता है। अतः हम इस वाद की सिद्धि बिना साधन के ही करना चाहते हैं। क्योंकि समाधि अवस्था में योगियों को संवेदनाद्वैत-विज्ञानाद्वैत तत्त्व का ही प्रतिभास होता है—अतः वही एक वास्तविक तत्त्व है। इसकी गति (ज्ञप्ति, सिद्धि) स्वतः ही है। इसमें अन्य प्रमाण सापेक्षता नहीं है। सो इस प्रकार निःसाधन सिद्धि पक्ष को लेकर प्रतिपादन करना भी ठीक नहीं है। क्योंकि योगियों को जिसकी ज्ञप्ति है, वह पर वादियों को मान ही लेनी चाहिये। अथवा वह उन्हें भी सिद्ध ही है। ऐसे तो कोई बात नहीं है। यह तो अपने घर की बात है। अपनी मान्यता दूसरों पर बिना प्रमाण के कैसे लादी जा सकती है।

तत्त्वं विशुद्धं सकलैर्विकल्पै-
विश्वाऽभिलापाऽऽस्पदतामतीतम्।
न स्वस्य वेद्यं न च तन्निगद्यं,
सुषुप्त्यवस्थं भवदुक्ति-बाह्यम् ॥१६॥

अन्वय—सकलैः विकल्पैः विशुद्धं तत्त्वं स्वस्य वेद्यं न

(भवति)। विश्वाभिलापास्पदताम् अतीतं तत् निगद्यं च न (भवति)। (अतः) भवदुक्तिबाह्यं (एतत्) सुषुप्त्यवस्थम्।

अर्थ—समस्त विकल्पों से शून्य यह विज्ञानाद्वैत तत्त्व स्वसंवेद्य नहीं हो सकता है। एवं समस्त अभिलापों की आश्रयता से रिक्त यह दूसरों के प्रति कहने के योग्य भी नहीं हो सकता है। इसलिये हे वीर! आपके सिद्धान्त से बाह्य यह तत्त्व सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होता है।

भावार्थ—विज्ञानाद्वैतवाद की सिद्धि में जिस प्रकार साध्य साधन भावरूप विकल्प की व्यवस्था घटित नहीं होती है, उसी प्रकार कार्य कारण, ग्राह्य ग्राहक, वाच्य वाचक, बाध्य बाधक, वाच्य वाचक भाव आदि कोई भी प्रकार का विकल्प वहां घटित नहीं हो सकता है। अतः इन सकल विकल्पों से विशुद्ध शून्य होने के कारण वह संवेदनाद्वैतरूप सिद्धान्त योगियों के भी स्वसंवेद्य नहीं हो सकता है। इसलिये १८वें श्लोक में "योगिगम्यं" इस पद से उसमें जो योगिगम्यता मानकर स्वसंवेद्यता सिद्ध करनी चाही है, वह सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि योगियों के सकल विकल्पों से रहित अवस्था में भी, ग्राह्य ग्राहक आकार रूप विकल्पात्मक संवेदन का ही प्रतिभास होता है। अतः संवेदनाद्वैत में स्वसंवेदनगम्यता भी नहीं आ सकती है। क्योंकि उस अवस्था में सकल विकल्पातीतता होने पर भी ग्राह्य ग्राहक आकार रूप विकल्प से अतीतता नहीं है।

इसी प्रकार समस्त अभिलापों की आश्रयता से रहित होने के कारण वह संवेदनाद्वैत रूप तत्त्व, पर के लिये समझाया भी नहीं जा सकता। क्योंकि उसमें जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया एवं यदृच्छाशब्दों (सांकेतिक शब्दों) की आश्रयता नहीं आ सकती है। अतः वह इन शब्दों के द्वारा कहा नहीं जा सकता है। अन्यथा इनके द्वारा कथित मानने में उसमें कल्पना की सिद्धि होने से सविकल्पात्मकता सिद्ध माननी पड़ेगी। इस सिद्धि में द्वैतापत्ति आने से अद्वैतवाद विघटित होता है। कोई सांकेतिक शब्द भी उसका प्रतिपादन नहीं कर सकता। क्योंकि उसमें उस शब्द का संकेत ही गृहीत नहीं हो सकता है। क्योंकि संकेत का हेतु विकल्प होता है। वह तो सदा विकल्प से शून्य माना गया है। इसलिये सुषुप्ति अवस्था में संवेदन की जो हालत होती है, वही हालत इस संवेदनाद्वैत की है। अतः हे नाथ! जो आपके अनेकान्त शासन से बाह्य हैं, वे सब एकान्ततत्त्व हैं। उनकी अवस्था बिना आपके शासन का आश्रय किये निर्दोष नहीं बन सकती।

मूकाऽऽत्म-संवेद्यवदात्म-वेद्यं,
तन्म्लिष्ट-भाषाप्रतिमप्रलापम्।
अनंग-संज्ञं तदवेद्यमन्यैः
स्यात् त्वद्द्विषां वाच्यमवाच्यतत्त्वम् ॥२०॥

अन्वय—मूकात्मसंवेद्यवत् आत्मवेद्यं म्लिष्टभाषाप्रतिमप्रलापम् तत्, अनंगसंज्ञं तत् अन्यैः अवेद्यं स्यात्। (अतः हे वीर एवं) त्वद्विषां अवाच्यतत्वं (किं) वाच्यं (स्यात्)।

अर्थ—गूंगे पुरुष के आत्म संवेद्य स्वसंवेदन की तरह यह संवेदनाद्वैत भी आत्मसंवेद्य ही है। उसका कथन भी गूंगे पुरुष की अस्पष्ट भाषा के समान निरर्थक है। अनभिलाप्य होने से उसमें किसी भी अंग संज्ञा के द्वारा संकेत भी नहीं किया जा सकता है। अतः वह दूसरों के द्वारा अवेद्य है। इस प्रकार हे वीर! आपसे द्वेष रखने वालों का अवाच्य तत्व क्या वाच्य हो सकता है? नहीं हो सकता।

भावार्थ—संवेदनाद्वैतवादी संवेदनाद्वैत में अनभिलाप्यता सिद्ध करने के लिये इस प्रकार कहते हैं, कि जिस प्रकार गूंगे पुरुष का स्वसंवेदन रूप ज्ञान, आत्मवेद्य—स्वतः अपने आपके द्वारा जानने लायक होता है, अथवा जाना जाता है, दूसरे जन उसे नहीं जान सकते, उसी प्रकार यह संवेदनाद्वैत तत्त्व भी आत्मसंवेद्य ही है, शब्दादिरूप अभिलापों द्वारा उसका प्रतिपादन नहीं हो सकता। यदि यहां पर यह शंका की जावे कि जब वह सर्वथा अनभिलाप्य ही है, अथवा आत्मसंवेद्य ही है, तो फिर अनभिलाप्य या आत्मसंवेद्य इस शब्द द्वारा उसकी तारीफ होने से उसमें अभिलाप्यता सिद्ध होती है, सो यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि वह तो इन शब्दों के द्वारा कहा ही नहीं

जा सकता। जिस प्रकार गूंगे पुरुष की भाषा अस्पष्ट होती है और उसका कथन करना जिस प्रकार निरर्थक होता है, कोई खास तत्त्व नहीं रखता है, ठीक इसी प्रकार यह संवेदनाद्वैत भी है। इसे भी कोई नहीं समझा सकता। इसका भी किसी भी तरह से प्रतिपादन नहीं हो सकता। अंग संज्ञा द्वारा भी वह संकेतित नहीं हो सकता है। समझाने के दो मार्ग हैं। प्रथम–शब्दादि द्वारा उसका प्रतिपादन किया जाय, दूसरा, अंग द्वारा उसे संकेतित किया जाय। संवेदनाद्वैत इन दोनों बोध के प्रकारों से रिक्त है। न वहां शब्दादिकों की प्रवृत्ति हो सकती है और न वह किसी भी शारीरिक संज्ञा आदि से संकेतित ही हो सकता है। ऐसी अवस्था में वह अन्य व्यक्तियों द्वारा स्वतः ही अवेद्य–अज्ञेय सिद्ध हो जाता है। दूसरों के लिये वह किसी भी अवस्था में प्रतिपाद्य नहीं हो सकता है। अतः उसे आत्म संवेद्य, अनंगसंज्ञ एवं गूंगे पुरुष की भाषा की तरह, अपरावेद्य माना गया है। इस प्रकार संवेदनाद्वैतवादियों का कथन है। इस पर सूत्रकार कहते हैं, कि हे नाथ वीर भट्टारक! इस प्रकार के प्रतिपादन से जब वे उस स्वाभिमत संवेदनाद्वैत तत्त्व में सर्वथा अवाच्यता ही प्रथित करते हैं, तब अवाच्यता सिद्ध करने से भी तो, वह किसी न किसी रूप से वाच्य कोटि में आ जाता है। फिर भी सिद्धान्त व्यामोह वश उसे अवाच्यतारूप से ही थामकर बैठे रहना, उसे सर्वथा अवाच्य ही मानना, इसका मतलब ही यही है कि विषय में उन्हें कुछ भी नहीं कहना चाहिये। अन्यथा उसमें वाच्यता

आ जाती है। इसलिये इन संवेदनाद्वैतवादियों को यही चाहिये कि वे सदा इस विषय में मौन का ही अवलम्बन करते रहें। इस विषय में उन्हें कुछ भी बोलना, उसकी अवक्तव्यता पर कुठाराघात करना है।

अशासदञ्जांसि वचांसि शास्ता,
शिष्याश्च शिष्टा वचनै र्न ते तैः।
अहो इदं दुर्गतमं तमोऽन्यत्
त्वया विना श्रायसमार्य किं तत् ॥२१॥

अन्वय—शास्ता अञ्जांसि वचांसि अशासत्। तैः वचनैः च ते शिष्याः शिष्टा न (बभूवुः) अहो! इदं दुर्गतमं अन्यत् तमः (एव)। (अतः) आर्य त्वया बिना किं तत् श्रायसम्।

अर्थ—शास्ता-सुगत ने ही अनवद्य-निर्दोष वचनों की शिक्षा दी, परन्तु उन वचनों से वे शिष्य समझदार नहीं हुए। आश्चर्य है, कि इस प्रकार का बौद्धों का यह कथन दूसरा गाढ़तम अन्धकार ही है। इसलिये हे वीर भट्टारक! आपके सिवाय और कौन है जो कल्याण कारक हो।

भावार्थ—बौद्धों का यह कथन अमोह कैसे माना जा सकता है, कि "यथार्थदर्शनादिक गुणों से युक्त होने से सुगत—बुद्धदेव ने ही निर्दोष वचनों की जगत को शिक्षा दी, परन्तु जगत रूप उनके शिष्यों ने उनके वचनों से कोई भी अपनी भलाई नहीं

करी—उनके वचनों से वे शिक्षित नहीं हुए। यदि शिक्षित हो जाते, तो बौद्ध सिद्धान्त के झंडे के नीचे ही अखिल विश्व आकर विश्रान्त करता।" क्योंकि इस प्रकार का कथन चतुर व्यक्तियों के चित्त में महान् आश्चर्य कारक है, कारण कि यह बात समझ में नहीं आती है, कि बुद्धदेव जैसे यथार्थवादी शास्ता के होने पर और उनके वचनों में निर्दोषता तथा शिष्यजनों के हृदय में उनके प्रति अपार भक्ति होने पर भी, वे उनके शिष्यजन उनके सिद्धान्त से शिक्षित नहीं हो सके। गुणवान् शास्ता की उपस्थिति में, तत्त्व प्रतिपत्ति के योग्य शिष्यों जनों के लिये यथार्थ वचनों के द्वारा तत्त्वानुशासन अवश्य होता है, यह बात जब प्रसिद्ध है, तब इसमें ऐसी कौनसी बात बनी, जो सुगत जैसे निर्दोष देव का सुन्दर उपदेश मिलने पर भी, उसमें वे श्रद्धाशील शिष्यजन उनकी शिक्षा से वंचित रह गये। क्यों नहीं उन्होंने सबने आंखें मींचकर, उनके इस संवेदनाद्वैत रूप उपदिष्ट सिद्धांत को, एकमत होकर स्वीकार किया। अतः यह सिद्धान्त प्रेक्षावान पुरुषों की दृष्टि में, मालूम होता है उपहासास्पद प्रतीत हुआ। कारण कि इसमें शास्ता, शास्य, शासन और उसके प्रतिपादन में उपायभूत वचनों का सद्भाव ही सिद्ध नहीं हो सकता है। भला ऐसे अनुपयोगी—अकल्याण कारक सिद्धान्त को, कौन समझदार व्यक्ति अंगीकृत कर अपनी मूर्खता प्रदर्शित करेगा। यदि इसे उपयोगी सिद्ध करने के लिए यह कहा जाय, कि इसमें तो तत्त्व चतुष्टय—शास्ता, शिष्य, शासन और तदुपायभूत वचन

की व्यवस्था, संवृत्ति (कल्पना) व्यवहार से है ही। फिर यह प्रेक्षावानों की हंसी का पात्र भी कैसे हो सकता है, दूसरे—इस प्रकार की जब व्यवस्था बन जाती है, तो परमार्थ से भी इस संवेदनाद्वैत तत्त्व में निश्रेयस लक्षण रूपता की प्रसिद्धि हो जाती है। अतः इसमें उपादेयता ही सिद्ध है, अनुपादेयता (हास्यपात्रता) नहीं। सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं। कारण कि हे वीर भट्टारक! स्याद्वाद के नायक आपके सिवाय और कहीं अन्यत्र मुझे श्रायस—निश्रेयसलक्षणरूपता प्रतीत नहीं होती। यह श्रायस तो स्याद्वादसिद्धान्त में ही घटित होता है। इसके विरोध में नहीं।

प्रत्यक्ष-बुद्धिः क्रमते न यत्र,
तल्लिंग-गम्यं न तदर्थ-लिंगम्।
वाचो न वा तद्विषयेण योगः,
का तद्गतिः कष्टमशृण्वतां ते ॥२२॥

अन्वय—यत्र प्रत्यक्षबुद्धिः न क्रमते तत् (यदि) लिंगगम्यं (स्यात्), तत् अर्थलिङ्गम् न। वाचः तद्विषयेण वा न योगः। का तद्गतिः। ते अशृण्वतां कष्टं।

अर्थ—जिस संवेदनाद्वैत रूप तत्त्व में प्रत्यक्ष बुद्धि प्रवृत्त नहीं होती, उसे यदि लिङ्ग गम्य माना जाय, तो वह लिंग अर्थ-स्वभाव–लिंग रूप नहीं हो सकता। वचनरूप परार्थानुमान का भी उस संवेदनाद्वैतरूप विषय के साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता

है। अब उसका ज्ञान–प्रतिपत्ति, कैसे हो सकता है। अतः हे नाथ! आपके शासन को स्वीकार नहीं करने वाले बौद्धों का दर्शन कष्ट रूप है।

भावार्थ—यहां संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध से यह प्रश्न किया जा रहा है, कि तुम्हारा संवेदनाद्वैत तत्त्व जिसे तुम निर्वाणरूप स्वीकार करते हो, वह किस प्रमाण का विषय है। क्या प्रत्यक्ष प्रमाण उसका साधक है, या अनुमान प्रमाण। संवेदनाद्वैत ही तत्त्व है एवं वही निश्रेयस है, इस प्रकार के निश्चय की अनुत्पत्ति होने से, प्रत्यक्ष बुद्धि उसकी साधिका नहीं होती है। यदि यों कहा जाय कि स्वर्ग प्रापण शक्त्यादि की तरह उसे हम लिंग गम्य मान लेंगे–सो भी उचित नहीं मालूम देता। कारण कि स्वभाव–लिंग और कार्य–लिंग की उसके ख्यापन में शक्ति है ही नहीं। क्योंकि जिसका साध्य प्रत्यक्ष गम्य होता है, वहीं पर स्वभावलिंग की प्रवृत्ति मानी जाती है। जैसे–"वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्" यह वृक्ष है क्योंकि यह शिंशपा है। यहां जब संवेदनाद्वैतरूप साध्य ही प्रत्यक्षगम्य नहीं है तब उसके स्वभावलिंग की प्रतिपत्ति भी प्रत्यक्ष से कैसे हो सकती है। यदि संवेदनाद्वैत रूप साध्य और उसके स्वभाव रूप हेतु की प्रतिपत्ति लिंगान्तर गम्य मानी जाय, तो फिर इस प्रकार से अनवस्था दोष प्रसक्त होता है। कार्य-लिंग की भी प्रवृत्ति इसके सिद्ध करने में संभवित नहीं, कारण कि इस प्रकार की मान्यता में अग्नि और धूम की तरह वहां कार्य कारणभाव हो जाने से द्वैतापत्ति का प्रसंग होता

है। इसी प्रकार वचन रूप परार्थानुमान का भी सम्बन्ध उसके साथ नहीं बनता है। कारण कि इस प्रकार की मान्यता में उसमें अभिलाप्यता सिद्ध हो जाती है, जो सर्वथा अनभिलाप्य सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ती है। अब बताओ उसकी प्रतिपत्ति का कौनसा ऐसा मार्ग है, जिससे उसका ज्ञान हो सके। प्रत्यक्षा, लैंगिकी और शाब्दी प्रतिपत्ति तो उसकी इस पूर्वोक्त प्रकार से होती ही नहीं है। इसलिये हे नाथ ! आपके शासन को नहीं सुनने-मानने वाले इन बौद्धों का यह सिद्धान्त बड़ा ही कष्ट स्वरूप है। क्या कहा जाय।

यदि "संवृति से संवेदनाद्वैत तत्त्व की प्रतिपत्ति होती है, इसलिये इस मान्यता में कष्टरूपता नहीं है" ऐसा माना जाय तो यह मान्यता भी सदोष है। इसी बात को इस श्लोक द्वारा सूत्रकार प्रदर्शित करते हैं—

रागाद्य विद्याऽनल-दीपनं च,
विमोक्ष-विद्याऽमृत-शासनं च।
न भिद्यते संवृति-वादिवाक्यं,
भवत्प्रतीपं परमार्थ-शून्यम् ॥२३॥

अन्वय—रागाद्य विद्याऽनलदीपनं विमोक्षविद्यामृतशासनं च संवृतिवादिवाक्यं भवत्प्रतीपं परमार्थ-शून्यं (सत्) न भिद्यते।

अर्थ—रागादिक अविद्या रूप अनल का दीपनरूप एवं विमोक्षविद्या रूप अमृत का शासन रूप संवृतिवादियों का वाक्य

आपके शासन से विरुद्ध होने के कारण परमार्थ से शून्य है। अतः हे नाथ ! उन वाक्यों में कोई भेद ही नहीं बन सकता है।

भावार्थ—कष्टरूपता की निवृत्ति के लिये संवेदनाद्वैत तत्त्व की संवृत्ति से प्रतिपत्ति मानने पर उस तत्त्व के पक्षपाती बौद्धों के प्रति, सूत्रकार यह कह रहे हैं, कि जिस प्रकार तुम्हारी दृष्टि में "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इस रागादि अविद्यानल दीपक वाक्य में परमार्थशून्यता है, उसी प्रकार तुम्हारे "सम्यग्ज्ञानवैतृष्ण्यभावनातो निःश्रेयसं" इस वाक्य में भी परमार्थ शून्यता है। इस अपेक्षा से इन दोनों वाक्यों में कोई भेद नहीं हो सकेगा, भेद सिद्ध करने के लिये यदि इन वाक्यों के विषयभूत विषय परमार्थ माने जावें, तो इस प्रकार से केवल संवेदनाद्वैत तत्त्व की सिद्धि न होकर द्वैत की ही सिद्धि होती है, जो तुम्हारी दृष्टि में अपसिद्धान्त की पोषक होती है।

इन वाक्यों में परमार्थ शून्यत्वरूप हेतु की पुष्टि 'भवत्प्रतीपं' यह शब्द करता है। क्योंकि हे नाथ ! आपके स्याद्वादरूप अनेकांत शासन में इन वाक्यों का विषय तो वास्तविक ही माना गया है। रागाद्य विद्यानल दीपक वाक्य के विषय, जो बन्ध के कारण परमार्थ-भूत मिथ्यादर्शन आदि हैं। इसी प्रकार विमोक्ष विद्यामृतशासक वाक्य के विषय भी मोक्ष के कारणभूत पारमार्थिक सम्यग्दर्शनादिक हैं। अतः हे प्रभो ! आपके अनेकांत शासन से विपरीत मान्यता वाले इन संवेदनाद्वैतवादी बौद्धों के यहां, जो संवृत्ति से इस तत्त्व की व्यवस्था प्रतिपादित कर रहे

हैं, इन वाक्यों में परस्पर में कोई भेद प्रतिपत्ति का नियामक ही सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि दोनों वाक्यों में आपके सिद्धांत से विरुद्ध होने के कारण परमार्थ शून्यता जो आती है।

विद्या-प्रसूत्यै किल शील्यमाना,
भवत्यविद्या गुरुणोपदिष्टा,
अहो त्वदीयोक्त्यनभिज्ञमोहो,
यज्जन्मने यत्तदजन्मने तत् ॥२४॥

अन्वय—"गुरुणा उपदिष्टा अविद्या शील्यमाना (सती) किल विद्याप्रसूत्यै भवति" अहो (इति) त्वदीयोक्त्यनभिज्ञमोहः। यत् यज्जन्मने तत् तदजन्मने (न भवति)।

अर्थ—"गुरु के द्वारा उपदिष्ट अविद्या भाव्यमान होती हुई, निश्चय से विद्या की प्रसूति के लिए होती है" इस प्रकार का आपकी उक्ति को नहीं जानने वाले बौद्ध का कथन विपरीताभिनिवेश है। क्योंकि जो जिसकी उत्पत्ति के लिये होता है, वह उसकी अनुत्पत्ति के लिये नहीं हो सकता है।

भावार्थ—संवृतिवादी बौद्धों का यह कहना, कि श्रुतमयी एवं चिंतामयी अविद्यारूप भावना प्रकर्ष पर्यन्त को प्राप्त होती हुई संविदद्वैतरूप विद्या की जनक होती है। इसीलिये गुरु ने इसका उपदेश दिया है।

इसके ऊपर सूत्रकार का इस श्लोक द्वारा यह समाधान है—

जितनी भी अविद्या हैं, वे अपने द्वारा अविद्यान्तर की प्रवृति के लिये मान्य की गई हैं, जब यह विसंवाद रहित सिद्धान्त है तो गुरु द्वारा भी उपदिष्ट उस अविद्या को भाव्यमान होने पर भी विद्या प्रवृति के लिये मानना यह बौद्ध का [illegible] रूप से विपरीताभिनिवेश है। यह उनमें आपकी उक्ति की अनभिज्ञता से ही आया है। इस अनभिज्ञता का कारण भी उनके दर्शन मोहनीय कर्म का उदय है। नहीं तो वे ऐसा कैसे विपरीत कथन करते कि अविद्या भी विद्या प्रवृति करती है। यह तो स्पष्ट विरुद्ध अभिनिवेश ही है, भला कहीं ऐसा भी हो सकता है कि जो मदिरापान मद की उत्पत्ति का हेतु होता है, वही उसकी अनुत्पत्ति में हेतु होने योग्य हो। यदि यहां पर यह शंका उठाई जाय, कि जिस प्रकार विष का भक्षण विष विकार का कारण प्रसिद्ध होते हुए भी, किञ्चित् विष विकार के अजन्म का कारण देखा जाता है, उसी प्रकार कोई एक अविद्या भी भाव्यमान होती हुई, स्वयं अविद्या के जन्म के अभाव के लिये हो जायगी, इसमें कौनसा विरोध हो सकता है। सो यह कहना बिना विचार भरा है। क्योंकि विष का दृष्टान्त विषम है। विष दो प्रकार के होते हैं—एक स्थावर विष, दूसरा जंगम विष। जो विष भ्रम दाह मूर्च्छा आदि विकृति का जनक होता है, वह जंगमविष है। और जो इनका जनक नहीं होता, वह स्थावर विष है। इन दोनों में एक दूसरे की अपेक्षा भिन्न पना है। इसलिये यह मान्यता समीचीन कैसे हो सकती है, कि जिस प्रकार विष विषविकार का

किञ्चित अजनक देखा जाता है, उसी प्रकार अविद्या भी अविद्या के जन्म के अभाव के लिये होती है। अतः भ्रम मूर्छादिरूप विकार-जनक विष अपने इस विपरीत विष से भिन्न है। फिर इस उदाहरण से अविद्या में विद्याजनकता कैसे सिद्ध की जा सकती है। सम उदाहरण से ही साध्य सिद्ध होता है, विषम से नहीं। यदि उदाहरण में समता लाने के लिये यह कहा जाय, कि विष की द्विविधता की तरह अविद्या में भी हम द्विविधता अंगीकृत कर लेंगे, इसलिये यह बात सिद्ध हो सकेगी, कि अविद्यानुकूल एक अविद्या भिन्न है जिसकी उद्भूति अनादिकालीन वासना से होती है और यह संसार की हेतु होती है। दूसरी एक अविद्या ऐसी है जो विद्यानुकूल है। यह मोक्ष की कारण होती है एवं अनादि अविद्या की निवृत्ति कराने वाली होती है। इस प्रकार विष की भिन्नता की तरह, आपस में इन दोनों में भिन्नता होने से, उदाहरण में समता घटित हो जाती है। फिर इसे विषम आप कैसे कहते हैं। सो यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि जिस प्रकार विष में परस्पर में प्रतिपक्ष-भूतता सिद्ध है, उस प्रकार यहां प्रतिपक्षभूतता सिद्ध नहीं होती है। अविद्या, अविद्या की प्रतिपक्षभूत हो, ऐसी बात संभवित नहीं होती। यदि उनमें प्रतिपक्षता संभवित होती है, तो किसी एक में विद्यापना अंगीकृत करना पड़ेगा। अर्थात् जो अविद्या की प्रतिपक्षा होगी वह विद्या ही है, ऐसा अनिवार्य मानना पड़ेगा। यदि इस पर यह आक्षेप किया जाय कि "इस प्रकार के कथन से तो विष में भी

प्रतिपक्षता सिद्ध नहीं होती है। जिस प्रकार अविद्या की प्रतिपक्षभूत दूसरी अविद्या नहीं हो सकती, उसी प्रकार एक विष का प्रतिपक्ष दूसरा विष भी नहीं हो सकता। यदि होता है, तो उसमें अविषत्व—अमृतत्व का अनुषंग होता है।" सो यह कथन तो हमारे अनुकूल ही है। जंगम—विष का प्रतिपक्षभूत स्थाविर—विष है और इसीलिये उसकी विष—अमृत इस रूप से प्रसिद्धि है। यदि उसमें सर्वथा विषत्व ही माना जाय, तो फिर एक जंगम विष के साथ उसमें प्रतिपक्षता ही सिद्ध नहीं हो सकती। इससे मालूम होता है, कि उसमें किसी अपेक्षा से विषता नहीं भी है। यही अपेक्षाकृत अविषता उसमें अमृतता है। अपेक्षाकृत विषता क्षीरादिक में भी है। क्योंकि जिस प्रकार विष प्राणापहारी होता है, उसी प्रकार अधिक दूध का अभ्यवहरण भी किसी किसी के प्राणों का अपहारी देखा जाता है। इसी प्रकार कोई विद्यानुकूला अविद्या यदि किसी दृष्टि से विद्यास्वरूपा तुम्हें मान्यता के रूप में अंगीकृत हो, क्योंकि यदि ऐसा नहीं होगा तो उसमें प्रतिपक्षता नहीं बन सकेगी। इस अभिप्राय से, तो इस कथन में हमें कोई अनिष्टापत्ति नहीं है, क्योंकि इस मान्यता से स्याद्वादिमत का आश्रयण ही प्रसिद्ध होता है। अपेक्षावाद अंगीकृत होने से। परन्तु हां! संवृतिवादियों की मान्यता में इससे विरोध अवश्य आता है। हम स्याद्वादियों के यहां क्षायिकी केवलज्ञानरूप परमा विद्या की अपेक्षा से ही क्षायोपशमिकी मतिज्ञानादिरूप अल्पविद्या अविद्यारूप से अभिप्रेत हुई है। अनादिमिथ्याज्ञान-

दर्शनरूप अविद्या की अपेक्षा से नहीं। इसीलिये मतिज्ञानादिकों में उस अनादि मिथ्याज्ञानदर्शनरूप अविद्या के साथ प्रतिपक्षता सिद्ध होने से विद्यात्व की सिद्धि हुई है। अतः यह निश्चित सिद्धान्त है, कि सर्वथा अविद्यात्मक भावना (श्रुतमयी एवं चिन्तामयी) चाहे वह गुरु से भी उपदिष्ट क्यों न हुई हो, परस्पर में विरुद्ध होने से, विद्याप्रवृत्ति के लिये क्षम नहीं हो सकती। तथा उसका उपदेष्टा जो गुरु है, उसमें भी अगुरुत्व का प्रसंग आता है। क्योंकि विद्या का उपदेशक ही गुरु होता है। अतः पुरुषाद्वैत की तरह समस्त प्रमाणों का अविषय होने से यह संवेदनाद्वैत तत्त्व अनुपाय रूप सिद्ध होता है। अर्थात् इस तत्त्व का साधक कोई भी प्रमाण नहीं है।

अभाव-मात्रं परमार्थ-वृत्तः
सा संवृतिः सर्व-विशेष-शून्या।
तस्या विशेषौ किल बंध-मोक्षौ
हेत्वात्मनेति त्वदनाथ-वाक्यम् ॥२५॥

अन्वय—परमार्थवृत्तेः अभावमात्रं (तत्वम्)। सर्वविशेषशून्या सा संवृतिः। हेत्वात्मना (विधीयमानौ) बंधमोक्षौ किल तस्याः विशेषौ। इति त्वदनाथवाक्यम्।

अर्थ—परमार्थवृत्ति से अभावमात्र तत्त्व है। वह परमार्थवृत्ति सर्वविशेषों से शून्य होने से संवृति रूप है। हेतुस्वभाव से विधीयमान बन्ध और मोक्ष निश्चय से उस संवृति के ही विशेष हैं।

भावार्थ—बौद्धों के चार भेद हैं। सौत्रान्तिक, योगाचार, वैभाषिक एवं माध्यमिक। सौत्रान्तिक लोग बाह्य जगत के अस्तित्व को मानते हैं और समस्त पदार्थों को बाह्य और अन्तर के भेद से दो विभागों में विभक्त करते हैं। बाह्य पदार्थ भौतिक रूप और आन्तर पदार्थ चित्त चैत्त रूप हैं। योगाचार के मत में विज्ञान के सिवाय बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं है। जिस प्रकार जलता हुआ काष्ठ (अलातचक्र) चक्र रूप से घूमता हुआ मालूम होता है—अथवा जिस प्रकार तैमिरिक पुरुष को केश में मच्छर का ज्ञान होता है, उसी तरह कुदृष्टि से युक्त लोगों को, अनादि वासना के कारण पदार्थों का एकत्व, अन्यत्व, उभयत्व और अनुभयत्व रूप ज्ञान होता है। वास्तव में समस्त भाव स्वप्न, ज्ञान, माया एवं गन्धर्व नगर की तरह असत् रूप हैं। इसलिये परमार्थ सत्य से स्वयं प्रकाशक ज्ञान ही सत्य है। यह सब दृश्यमान जगत विज्ञान का ही परिणाम है। परन्तु घट पटादिरूप की प्रतीति होती है, वह संवृति—सत्य से होती है। वैभाषिकों की मान्यतानुसार ज्ञान और ज्ञेय ये दोनों ही तत्त्व वास्तविक हैं। ये भूत, भविष्यत और वर्तमान को अस्तिरूप मानते हैं इस अपेक्षा से इनका दूसरा नाम सर्वास्तिवादी भी है। माध्यमिकों की मान्यता, शून्यवाद का प्रतिपादन करती है। उनका "न सन्वा सन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकं चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त" ऐसा कथन है। इसी माध्यमिकवाद के ऊपर श्लोक में विचार किया है। उनका यह कहना है, कि "जब सौत्रान्तिकों की मान्यता का

निराकरण करने से बाह्य और अन्तस्तत्त्व की सिद्धि ही नहीं होती है। तब फिर उसे निरन्वय क्षणिक परमाणु रूप मानना यह युक्ति युक्त नहीं कहा जा सकता। वैभाषिक जो अन्तस्तत्त्व को संवित्तिरूप एवं बहिस्तत्त्व को परमाणुरूप स्वीकार करते हैं, वह भी ठीक प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार योगाचार मत का निरसन होने से संवेदनाद्वैत रूप भी तत्त्व सिद्ध नहीं होता। इसलिये हम माध्यमिकों की मान्यतानुसार केवल अभाव-शून्य स्वरूप ही परमार्थवृत्ति से तत्त्व है। यह परमार्थवृत्ति संवृत्तिरूप है, तात्त्विकी नहीं। क्योंकि शून्य संवित्ति को तात्त्विकी मान लेने पर, शून्यतत्त्व का प्रतिषेध हो जाता है। शून्यसंवृति को संवृत्तिरूप मानने का कारण यह है, कि पदार्थसद्भाववादियों ने जिन जिन विशेषों को तात्त्विक माना है, वह उन सब से रहित है। अतः वह संवृति अविद्या रूप ही सिद्ध होती है। बन्ध एवं मोक्ष सकल तात्त्विक विशेषों से शून्य भी इसी अविद्यात्मक संवृति के एक प्रकार हैं। जो स्वयं सांवृत हैं—काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं हैं। क्योंकि ये काल्पनिक हेतु रूप स्वभाव के द्वारा विधीयमान हैं अर्थात् आत्मा एवं आत्मीय के अभिनिवेश से बन्ध तथा नैरात्म्य-भावना के अभ्यास से मोक्ष तत्त्व की व्यवस्था मानी जाती है। ये बन्ध और मोक्ष दोनों शून्यमान्यता से विरुद्ध इसलिये नहीं पड़ते हैं, कि ये दोनों तात्त्विक नहीं हैं।" इस प्रकार का यह माध्यमिकों का मत, हे नाथ ! आप जिनके नाथ—शासक नहीं हैं उनका है, सर्वथा शून्यवादियों का यह कथन है। आप जिनके

नाथ हैं उन अनेकान्तवादियों का यह कथन नहीं है। क्योंकि वहाँ तो स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव इस स्वचतुष्टय की अपेक्षा से सत्स्वरूप से कल्पित पदार्थों में ही, पर रूपादि चतुष्टय की अपेक्षा, शून्यता का कथन किया गया है। अभाव में यदि स्वरूप की अपेक्षा से भी सर्वथा असत्व कल्पित किया जाय, तो उसमें पारमार्थिकता ही नहीं आ सकती है। फिर अभाव मात्र तत्त्व ही पारमार्थिक है, यह कैसे बात मानी जा सकती है। यदि शून्य तत्त्व में पारमार्थिकता मानने के लिये स्वरूप की अपेक्षा से सत्ता तथा ग्राह्य–ग्राहक भाव आदि पररूप की अपेक्षा से असत्ता मानी जाय तो इस प्रकार की मान्यता में, वहां सदसदात्मका सिद्ध हो जाती है, जो हे नाथ! आपके अभिमत की ही पुष्टि करती है। अतः एकान्त शून्यता सर्वथा मृषा–अवास्तविक है, यह अवश्य अंगीकार करना चाहिये।

व्यतीत-सामान्य–विशेष-भावा–
द्विश्वाऽभिलापाऽथ-विकल्प-शून्यम्।
ख-पुष्पवत्स्यादसदेव तत्त्वम्
प्रबुद्ध-तत्त्वाद्भवतः परेषाम् ॥२६॥

अन्वय—प्रबुद्धतत्त्वात् भवतः परेषां तत्त्वं व्यतीतसामान्य-विशेषभावात् विश्वाभिलापार्थविकल्पशून्यं (सत्) खपुष्पवत् असदेव स्यात्।

अर्थ—हे नाथ ! प्रबुद्धतत्त्व वाले आपसे भिन्न एकान्तवादियों का तत्त्व, सामान्य और विशेष भावों के परस्पर निरपेक्ष होने के कारण, समस्त अभिलापों एवं अर्थविकल्पों से अथवा अपनी मान्यतानुसार पदार्थ की भेद व्यवस्था से शून्य होता हुआ, आकाश पुष्प की तरह असत् ही है ।

भावार्थ—बौद्धसिद्धान्त सर्वथा विशेषवादी है । इसकी मान्यतानुसार क्षण क्षण में विनष्ट होने वाला विशेष ही वास्तविक तत्त्व है । इसके अतिरिक्त सामान्य कोई अलग वस्तु नहीं है । दृष्टान्त के लिये गौ को ले लीजिये । हमें जिस समय गौ का प्रतिभास होता है, उस समय उसके आकार आदि विशेष प्रतिभास के सिवाय, सामान्य का बोध ही नहीं होता । क्योंकि विशेष ज्ञान को छोडकर उसका सामान्य ज्ञान हमारे अनुभव के बाह्य है ।

सांख्य सिद्धान्त सर्वथा अभेद–सामान्य सिद्धान्तवादी है । इसकी मान्यतानुसार सामान्य ही एक वास्तविक तत्त्व है । उनका यह कहना है कि सामान्य ही वास्तविक तत्त्व है । इसके अतिरिक्त विशेष दृष्टि गोचर नहीं होता । विशेषों में भी तो विशेषत्व सामान्य मानकर ही, वहां से निःस्वभावत्व की आशंका को दूर किया जाता है । अतः इनकी दृष्टि में सामान्य रूप प्रकृतितत्त्व के सिवाय महद् अहंकार आदि प्रकृति जन्य विशेष कार्य अपनी स्वतंत्र सत्ता न होने से अपने कारण से भिन्न रूप में सिद्ध नहीं होते ।

सामान्य एवं विशेषों को मानकर भी उनकी परस्पर निर-पेक्ष सत्ता मानने वाले नैयायिक एवं वैशेषिक हैं। उनका यह सिद्धान्त है, कि ये दोनों परस्पर में विरुद्ध हैं। जिनका परस्पर में विरोध होता है, वे आपस में सर्वथा भिन्न होते हैं। अनुवृत्ति प्रत्यय का जनक सामान्य, और व्यावृत्ति प्रत्यय का जनक विशेष है। ये दोनों शीत उष्ण की तरह एक जगह में कैसे रह सकते हैं? दूसरे सामान्य का क्षेत्र व्यापक है और विशेष का क्षेत्र व्याप्य है।

इस प्रकार की इन मान्यताओं का निराकरण इस श्लोक द्वारा सूत्रकार ने किया है। इस पर उनका यह कथन है कि ये तीनों प्रकार की मान्यतायें प्रमाण बाधित हैं। कारण कि सामा-न्यविशेषात्मक पदार्थ की ही उपलब्धि प्रमाण द्वारा होती है। स्वतंत्र सामान्य, स्वतंत्र विशेष एवं परस्पर निरपेक्ष सामान्य-विशेष, प्रमाण के विषय नहीं होते। विशेष निरपेक्ष सामान्य और सामान्य निरपेक्ष विशेष, खपुष्प की तरह असत् प्रकट किये गये हैं। यदि इनकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकृत की जाय, तो पदार्थ में जो युगपत् अनुवृत्ति और व्यावृत्ति प्रत्यय होता है वह नहीं हो सकेगा। पदार्थ में अनुवृत्ति प्रत्यय का जनक सामान्य और और व्यावृत्ति प्रत्यय का जनक विशेष ही होता है। क्योंकि ये दोनों परस्पर अविनाभावी हैं। सामान्य को छोड़कर विशेष, और विशेष को छोड़कर सामान्य, त्रिकाल में भी नहीं रह सकता है। जिस समय हम गौ को देखते हैं, उस समय हमें सामान्य

रूप से खुर, ककुद सींग आदि अवयवों वाली व्यक्तिरूप सब गायों का ज्ञान होता है और उसी समय उससे ही, भैंस आदि की व्यावृत्ति रूप विशेष ज्ञान भी होता है। यदि सामान्य विशेष स्वतंत्र, या परस्पर निरपेक्ष होते तो इस प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रकृत में विशेष निरपेक्ष सामान्य को ही, यदि तात्त्विक रूप से अंगीकृत किया जाय, तो सांख्यों के यहां महद् अहंकार आदि रूप जो प्रकृति-सामान्य के विकार रूप विशेष हैं, उनकी स्वतंत्र सत्ता सिद्ध न होने से विशेषों के अभाव में प्रकृति रूप सामान्य तत्त्व का भी स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। कारण कि अभी यह प्रकट ही किया जा चुका है, कि ये दोनों परस्पर अविनाभावी हैं। एक में असत्व मानने पर तदविनाभावी दूसरे में भी असत्व सिद्ध हो जाता है। दूसरे; महद् अहंकार आदि व्यक्त, एव अव्यक्त प्रकृति ये दोनों भोग्य हैं, आत्मा-पुरुष द्वारा ये भोगने योग्य हैं। जब ये भोग्य ही स्वतंत्र अस्तित्व विशिष्ट सिद्ध नहीं हैं, तो फिर इनके भोक्ता आत्मा की भी सत्ता कैसे सिद्ध हो सकती है? इस प्रकार नहीं इष्ट होने पर भी, सांख्यों के यहां सर्व शून्यता की सिद्धि का प्रसंग आता है। यदि इस शून्यता की प्रसक्ति को निराकृत करने के लिये व्यक्त और अव्यक्त में कथंचित् भेद मान्य रक्खा जाय, तो फिर इस प्रकार से विशेष तत्त्व की सिद्धि होने से, सर्वथा सामान्य तत्त्ववाद की मान्यता विलीन हो जाती है और अपेक्षा-

वाद सिद्ध होने से अनेकान्त रूप स्याद्वाद का आश्रयण प्रकट होता है।

इसी प्रकार बौद्ध सिद्धान्त जो सर्वथा विशेष तत्त्ववादी है, वह भी अपना अभिमत तत्त्व सिद्ध नहीं कर सकता। क्योंकि सामान्य के अपलाप में, विशेष का कोई स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि विशेषों की सत्ता, सामान्य के साथ अविनाभाव रूप से ही पाई जाती है। निरपेक्ष रूप से नहीं। सामान्य की अपेक्षा से ही उनमें विशेषता आती है, अन्यथा नहीं। अतः विशेषों में निरुपाख्यता की निवृत्ति के लिये सामान्य को भी तात्त्विक रूप से अंगीकार करना चाहिये। और यह मानना चाहिये कि ये दोनों परस्पर में सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं।

इसी तरह सामान्य और विशेषों का परस्पर निरपेक्ष वाद जिसे योगों ने अंगीकार किया है, वह भी बौद्ध एवं सांख्यों की मान्यता की तरह प्रमाणयुक्त नहीं है। क्योंकि इस प्रकार की एकांत मान्यता से, वहां समस्त अभिलाप एवं अर्थ विकल्पों की, अथवा अपनी मान्यतानुसार पदार्थ की भेद व्यवस्था से शून्यता आने से, खपुष्प की तरह असत्त्व ही सिद्ध होता है। जिस प्रकार सामान्य निरपेक्ष विशेषवाद और विशेष निरपेक्ष सामान्यवाद, अंगीकृत करने वाले बौद्ध एवं सांख्य आदिकों की मान्यताएं प्रमाण शून्य हैं, उसी प्रकार योगों की भी यह मान्यता ऐसी ही है। योगसिद्धान्तानुसार सामान्य दो प्रकार का माना गया है। एक परसामान्य और दूसरा अपर सामान्य। "अत्यन्त व्यावृत्तानां पिण्डानां यतः कारणात्

अन्योन्यस्वरूपानुगमः प्रतीयते, तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यं" अर्थात् जिस कारण से परस्पर में अत्यन्तव्यावृत्त पदार्थों का अन्योन्यस्वरूपानुगम जाना जाता है, वह अनुवृत्ति प्रत्यय का जनक सामान्य है। "द्रव्यादित्रिकवृत्ति तु सत्ता परतयोच्यते" (कारिकावली प्रत्यक्ष खंड का. ८) द्रव्य गुण और कर्म इन तीन पदार्थों में सत्ता-परसत्ता रहती है। यह परसत्ता-परसामान्य, द्रव्यत्व आदि अपर सामान्य की अपेक्षा से महान विषय वाली है। द्रव्यत्व रूप अपरसामान्य केवल नौ द्रव्यों में ही रहता है, तब कि पर सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में रहता है। "तच्च सामान्य-विशेष इत्यपि व्यपदिश्यते" अपर सामान्य का दूसरा नाम सामान्य विशेष भी है। जैसे द्रव्यत्व रूप अपर सामान्य, समस्त द्रव्यों में रहने के कारण सामान्य और गुण एवं कर्म में न रहने से विशेष कहा जाता है। इसी प्रकार जितने भी अवान्तर-अपर सामान्य हैं, वे सब द्रव्यत्व की तरह अपने व्यक्तियों में रहने से पर सामान्य और अन्य व्यक्तियों में न रहने से विशेष बन जाते हैं। गुणत्व, कर्मत्व, घटत्व और पृथ्वीत्व आदि सब अपर सामान्य हैं। द्रव्य, गुण एवं कर्म इन पदार्थों में सत्ता जो रहती है, वह समवाय सम्बन्ध से रहती है क्योंकि मूलतः वह उनसे भिन्न है। सत्ता न द्रव्यरूप है, न गुणरूप है और न कर्म रूप है। (द्रव्यगुण कर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता) ऐसा वैशेषिक सूत्र में कथन किया गया है। द्रव्यत्व जिस प्रकार द्रव्य रूप नहीं है, क्योंकि यह युगपत् समस्त अपने व्यक्तिरूप नौ

द्रव्यों में रहता है, अतः जिस प्रकार यह सामान्य है उसी प्रकार सत्ता भी प्रत्येक द्रव्य में रहने के कारण, द्रव्यरूप नहीं हो सकती। वह तो सामान्य ही कही जायगी। वैशेषिक मान्यतानुसार द्रव्य अद्रव्यद्रव्य और अनेक द्रव्यद्रव्य इस तरह दो रूप में विभक्त किया गया है। जो स्वयं न किसी द्रव्य से उत्पन्न हों, और न किसी द्रव्य के उत्पादक हों, वे अद्रव्य द्रव्य हैं। जैसे—आत्मा, आकाश, काल, दिग् आदि। ये स्वयं न तो किसी द्रव्य से उद्भूत हुए हैं और न किसी अन्य द्रव्य के उत्पादक होते हैं। द्वयणुकादिक स्कन्ध अनेक द्रव्य द्रव्य हैं। ये अनेक द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं और अनेक द्रव्यों के उत्पादक होते हैं। एक द्रव्य में रहने वाला द्रव्य नहीं होता है, सत्ता में एक द्रव्यत्व है, इसलिये वह द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार वह गुणत्व की तरह गुण से भी सर्वथा भिन्न है। गुणत्व जैसे गुण में रहता हुआ गुण नहीं माना जाता, क्योंकि "निर्गुणाः गुणाः" गुणों में दूसरे गुण नहीं रहते, उसी प्रकार सत्ता भी गुण में रहती हुई, गुण नहीं मानी जा सकती। कर्म भी सत्ता नहीं हो सकती, वह कर्मत्व की तरह उससे सर्वथा प्रथक् ही है। कर्मत्व जिस प्रकार कर्म में रहता है, उसी प्रकार यह भी कर्म में रहती है। इस तरह द्रव्य गुण और कर्मों से यह सत्ता सर्वथा भिन्न सिद्ध होती है। इनमें सत्ता समवाय संबन्ध से रहती है, स्वरूप से नहीं। सामान्य विशेष और समवाय इनमें स्वरूप से सत्ता रहती है, समवाय सम्बन्ध से नहीं। क्योंकि "व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं, सङ्करोऽथानवा-

स्थिति । रूपहानिसंबन्धो, जातिबाधकसंग्रहः" इस कारिका द्वारा यही बात प्रदर्शित की गई है । इसलिए द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष और समवाय ये छै पदार्थ भावात्मक हैं, फिर भी सत्ता का सम्बन्ध इन तीन पदार्थों के ही साथ है, अन्य के साथ नहीं" इस प्रकार वैशेषिकादिकों के इस कथन को चित्त में धारण कर टीकाकार श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि "परं हि सामान्यं सत्वं द्रव्यगुणकर्मभ्यो भिन्नमभिदधतां द्रव्यादीनामसत्वं स्यात् सत्वात् भिन्नत्वात् प्रागभावादिवत्" पर सामान्य रूप सत्ता यदि द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों से सर्वथा भिन्न रूप में स्वीकृत करने में आवेगी, तो उनमें सत्त्व से भिन्न होने के कारण प्रागभाव आदि की तरह असत्व ही अंगीकृत करना पड़ेगा अर्थात् ये भावरूप से मान्य किये गये पदार्थ सर्वथा असत्स्वरूप वाले हो जायेंगे ।

शंका—"द्रव्यादीनां असत्वं स्यात् सत्त्वात् भिन्नत्वात्" इस प्रयोग में, सत्व से भिन्न होने की वजह से, आप जो असत्व प्रतिपादन करना चाहते हो, तो हम आप से यह पूछते हैं, कि यहां द्रव्यादिक धर्मीरूप पदार्थ प्रतिपन्न हैं, या अप्रतिपन्न हैं । यदि अप्रतिपन्न हैं, तो आपका "सत्त्वात् भिन्नत्वात्" यह हेतु आश्रयासिद्ध है । क्योंकि "पर्वतोऽयं वह्निवान् धूमवत्त्वात्" यहां जिस प्रकार धूमवत्व हेतु का आश्रय प्रतिपन्न होने से, वह आश्रयासिद्धि दोष से निर्मुक्त माना जाता है, उस प्रकार "सत्त्वात् भिन्नत्वात्" वह हेतु आश्रयासिद्धि दोष से, धर्मी की अप्रतिपत्ति में, रहित नहीं हो सकता ।

बिना धर्मी के हेतु रहेगा ही कहां। यदि आश्रयासिद्धि दोष के परिहार के लिये, द्रव्यादिक धर्मी को प्रतिपन्न माना जावे, तो फिर आप असत्त्व उनमें सिद्ध कैसे कर सकते हैं? उनमें असत्त्व का कथन द्रव्यादिक धर्मी ग्राहक प्रमाण से बाधित हो जाता है। अतः इस अवस्था में यह हेतु "अग्निः अनुष्णः पदार्थत्वात्" इस हेतु की तरह अबाधित विषयत्व का अभाव होने से, कालात्ययापदिष्ट दोष से दुष्ट हो जाता है। अतः "सत्वात् भिन्नत्वात्" यह हेतु द्रव्यादिकों में असत्त्व की सिद्धि नहीं कर सकता है।

उत्तर—अप्रतिपन्न द्रव्यादिकों को यहां धर्मी नहीं बनाया गया है, किन्तु सत्त्व से कथंचित् अभिन्न रूप से प्रतिपन्न द्रव्यादिकों को धर्मी बनाया है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से वे कथंचित् सत्त्व से अभिन्न रूप में ही प्रतीति कोटि में आते हैं, भिन्नरूप में नहीं। अतः यहां पर यह बतलाया जा रहा है, कि जब प्रत्यक्षादि प्रमाण सत्त्व से कथंचित् अभिन्न द्रव्यादिक पदार्थों के व्यवस्थापक हैं, तो फिर उन्हें सत्त्व से सर्वथा भिन्न मानना, यह युक्ति युक्त नहीं माना जा सकता। इस प्रकार की मान्यता उसमें असत्त्व की ही प्रख्यापक होती है। अतः सत्त्व से एकान्त भिन्नता की उनमें व्यवस्था करने वाला हेतु ही कालात्ययापदिष्ट होता है "सत्त्वात् भिन्नत्वात्" यह हेतु नहीं। क्योंकि बाधित विषय वाला ही हेतु कालात्ययापदिष्ट होता है। सत्त्व से द्रव्यादिकों को भिन्न मानना यह विषय, सत्त्व से द्रव्यादिकों को कथंचित् अभिन्न रूप से ग्रहण करने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा बाधित है। इस बाधित विषय में ही

भिन्नता साधक हेतु की प्रवृत्ति हुई है। अतः भिन्नता साधक हेतु ही कालात्ययापदिष्ट है। "सत्त्वात् भिन्नत्वात्" यह हेतु नहीं। जहां जहां सत्त्व से सर्वथा भिन्नता है, वहां वहां नियम से असत्त्व है। इस व्याप्ति के पोषक प्रागभाव आदि हैं। वहां यौगों ने स्वयं सत्त्व से भिन्नता, असत्त्व के साथ व्याप्त मानी है। अतः द्रव्यादिकों में प्रतिपन्न सत्त्व भिन्नता असत्त्व सिद्ध करती है।

शंका—"सत्त्वात् भिन्नत्वात्" इस हेतु द्वारा जो आप असत्त्व साध्य सिद्ध करना चाहते हैं, सो ठीक नहीं है। क्योंकि हम लोगों ने द्रव्यादिक त्रिक में, सत्त्व-भिन्नता अंगीकृत ही नहीं की है। "द्रव्यादिक त्रिक में, सत्ता समवाय सम्बन्ध से रहती है" ऐसी हम लोगों की मान्यता है। अतः इस सत्ता के समवाय से द्रव्यादिकों में सत्त्व सिद्ध होता है, फिर "सत्त्वात् भिन्नत्वात्" हेतु से जो आप असत्ता सिद्ध कर रहे हैं, वह युक्ति युक्त नहीं है। तथाहि-"द्रव्यादीनि सत्तासमवायभांजि सत्प्रत्ययविषयत्वात्। यत्तु न सत्तासमवायभाक् तन्न सत्प्रत्ययविषयः, यथा प्रागभावाद्यसत्वं, सत्प्रत्ययविषयाश्च द्रव्यादीनि तस्मात् सत्ता समवायभांजि" "द्रव्य सत् हैं, गुण सत् हैं, कर्म सत् हैं" इस प्रकार के सत्प्रत्यय के विषय होने से, द्रव्यादिक त्रिक सत्ता के समवाय से युक्त हैं। जो सत्ता के समवाय से युक्त नहीं है, वह प्रागभावादिक की तरह, सत्प्रत्यय का विषय भी नहीं होता है। ये द्रव्यादिक तो सत्प्रत्यय के विषय हैं, अतः सत्ता के समवाय से विशिष्ट हैं।" इस प्रकार पञ्चावयव युक्त इस अनुमान से, द्रव्यादिकत्रिक में सत्ताकी सिद्धि होने से, उनमें

असत्व का प्रतिपादन करना युक्तियुक्त कैसे माना जा सकता है? शंकाकार का यह अभिप्राय है, कि आप जो द्रव्यादित्रिक में असत्त्व सिद्ध कर रहे हैं, सो यह असत्त्व क्या चीज है, सत्ता का असमवाय असत्व है, या नास्तित्व असत्व है। यदि यह कहा जाय, कि "नास्तित्व' असत्व है, तो यह कहना समीचीन नहीं है, क्योंकि ऐसी व्याप्ति नहीं बन सकती, कि "यत्र यत्र असत्वं तत्र तत्र नास्तित्वं"। कारण कि प्रागभावादिकों में सत्ता से भिन्नता होने पर भी, अस्तित्व स्वीकृत हुआ है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं, कारण कि हम योगों ने वहां सत्ता का समवाय मान्य किया है।

उत्तर—इस प्रकार के कथन से, न तो हमारा हेतु ही असिद्ध हो सकता है और न "असत्त्व" इस साध्य में कोई बाधा ही आ सकती है। सत्ता के समवाय से द्रव्यादिक त्रिक में,स्वरूप सत्ता तो सिद्ध नहीं होती। जहाँ स्वरूप से सत्ता नहीं है, वहां सत्ता के समवाय से सत्ता मानना, फालतू जैसी बात है। अथवा यह तो आपका सिद्धान्त है कि "द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता" सत्ता द्रव्यादिक से जुदी है। अतः "सत्वात् भिन्नत्वात्" यह हेतु ठीक है–निर्दोष है। अब रही साध्य की बात, सो इस पर जो आप यह कह रहे हैं, कि "सत्प्रत्यय का विषय होने से, वहां सत्ता का सम्बन्ध है" सो यह हेतु द्रव्यादिक त्रिक में, सत्ता का समवाय सम्बन्ध सिद्ध नहीं कर सकता है। कारण कि सत्प्रत्यय-विषयता, सामान्य विशेष और समवाय इनमें भी है। परन्तु उनमें

सत्ता का समवाय नहीं माना गया है। अतः साध्य के अभाव में रहने वाला होने से, यह हेतु व्यभिचारी होता है। व्यभिचारी हेतु साध्य के साथ अपना निश्चित रूप से, अविनाभाव सम्बन्ध सिद्ध नहीं करता।

शंका—"द्रव्यादीनि सत्तासमवायभांजि सत्प्रत्ययविषयत्वात् इस अनुमान में "सत्प्रत्ययविषयत्वात्" इस हेतु में "मुख्यसत्प्रत्ययविषयत्वात्" इतना निवेश करने से, व्यभिचार दोष का परिहार हो जाता है। क्योंकि सामान्यादिक में सत्प्रत्यय विषयता मुख्य रूप से नहीं है, किन्तु गौण रूप से है। द्रव्यादिक में ही सत्प्रत्यय विषयता मुख्यरूप से है।

उत्तर—सामान्यादिक त्रिक में, सत्प्रत्यय विषयता मुख्य रूप से नहीं है, किन्तु उपचार-गौण रूप से है ऐसा जो आप कह रहे हैं, सो इसका कारण क्या है। यदि कहो कि सामान्यादिकों में इस प्रत्यय का निमित्त स्वरूप सत्व है, अर्थात् सामान्यादिकों में सत्ता स्वरूप से ही रहती है, इसलिये वहां पर यह प्रत्यय गौण माना गया है। सो ऐसा कहना परस्पर विरुद्ध है। क्योंकि जहां पर स्वरूप से सत्ता रहती है, वहां उसके प्रत्यय को गौण-उपचार से मानना और जहा द्रव्यादिकत्रिक में सत्ता अर्थान्तरभूत-भिन्न है, वहां उसके प्रत्यय को मुख्य रूप से मानना, ऐसी बात को तो कोई बुद्धिमान अंगीकार नहीं करेगा और न कोई चतुर ही ऐसी बात कहेगा। लोक में भी यही बात

देखने में आती है, कि यष्टि के स्वरूप को लेकर ही, यष्टि में यष्टि प्रत्यय विषयता मुख्य रूप से मानी जाती है, और यष्टि सहचरित पुरुष में गौण रूप से।

शंका—सामान्यादिकों में सत्ता के समवाय से मुख्य सत्ता मानने से, अनवस्था आदि दोष आते हैं। अर्थात्–सामान्य में सामान्य मानने से अनवस्था, विशेषों में सामान्य मानने से रूपहानि, और समवाय में सामान्य मानने से समवायान्तर का असम्बन्ध, ये दोष आते हैं। द्रव्यादिकों में मुख्य सत्ता मानने से कोई दोष नहीं आता।

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि सामान्य में सत्ता मानने से अनवस्था दोष आता है, तो द्रव्यादिकों में सत्ता मानने से अनवस्था दोष क्यों नहीं आयेगा। सामान्य में स्वरूप सत्ता की तरह, द्रव्यादिकों में भी स्वरूप से सत्ता विद्यमान रहती है। तथा विशेषों में सत्ता का सम्बन्ध मानने से, स्वरूप हानि न होकर, प्रत्युत विशेषों की सिद्धि होती है। क्योंकि सामान्य रहित विशेषों का सद्भाव सिद्ध नहीं होता है। इसी तरह समवाय में भी सत्ता अंगीकार करने पर तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध होता है। इसलिये द्रव्यादिकों की तरह सामान्यादिकों में भी, मुख्य सत्ता मानने में कोई दोष नहीं है। इसलिये द्रव्यादिकों को सत्ता से अत्यन्त भिन्न मानने पर, उनमें असत्त्व आने से खपुष्प की तरह वहां सत्ता का समवाय बन ही नहीं सकता। बिल्कुल यह सम्बन्ध इस दशा में वहां असंभव है। अतः पृथ्वी आदि नव

द्रव्यों में द्रव्यत्व का असमवाय होने से अद्रव्यता, रूपादिक चौबीस गुणों में गुणत्व का असमवाय होने से अगुणता, एवं उत्क्षेपणादिक कर्मों में कर्मत्व का समवाय न बन सकने के कारण अकर्मता आने से, द्रव्य गुण और कर्म की असत्ता में कल्पित पदार्थ व्यवस्था बन ही नहीं सकती है। अतः सूत्रकार ने यह ठीक कहा है, कि सामान्य और विशेषों के सर्वथा निरपेक्ष होने से, यौगों के यहां भी सत् और असत् तत्व की कल्पित व्यवस्था खपुष्पवत् सर्वथा असत् ही है। क्योंकि सामान्य, विशेष एवं समवाय, स्वयं सामान्य एवं विशेषत्व धर्मों से रहित हैं। सामान्य सामान्य ही है, विशेष नहीं। विशेष विशेष ही है, सामान्य नहीं। इस प्रकार उनमें परस्पर सापेक्ष रूप सामान्यविशेषात्मकता का अभाव होने से, व्यतीत सामान्य विशेषत्व हेतु का यहां अस्तित्व सिद्ध होता है। इससे उनमें असत्ता साध्य की सिद्धि में कोई बाधा नहीं आती है। अतः खपुष्प की तरह यह सब पदार्थ व्यवस्था—सप्त पदार्थ व्यवस्था—वैशेषिकों की, एवं षोडश पदार्थों की मान्यता नैयायिकों की असत् है।

यहां "विश्वाभिलापार्थविकल्पशून्यं" का अर्थ तत्व, अपनी अपनी मान्यतानुसार सकल पदार्थों के भेदों की मान्यता स शून्य है। हे नाथ ! आपके यहां प्रत्येक द्रव्यादिक पदाथ कथंचित् सामान्य विशेषात्मक स्वीकार किये गये हैं, अतः उनमें असत्व नहीं आ सकता है। जीवादिक पदार्थ कथंचित् सामान्य विशेषात्मक हैं, इस मान्यता में किसी भी प्रमाण से बाधा नहीं

आती है। अतः सर्वथा एकान्तवादियों का तत्व असत् ही है। यह बात इस कारिका से पुष्ट प्रमाणों द्वारा सिद्ध की गई है।

फलितार्थ—विशेष ही वास्तविक तत्व है, इस प्रकार की बौद्धों की मान्यता सामान्य से रहित होने के कारण, सामान्य ही वास्तविक तत्व है, इस प्रकार की सांख्य आदिकों की मान्यता, विशेष से रहित होने के कारण, खपुष्प की तरह जिस प्रकार असत् है, उसी प्रकार परस्पर निरपेक्ष सामान्य विशेषवादी योगों की मान्यता भी खपुष्प की तरह असत् ही है। क्योंकि पदार्थ कथंचित् सामान्य विशेषात्मक हैं। अतः यह कहना कि परसत्ता रूप सामान्य द्रव्य गुण और कर्म में ही रहता है, सामान्यादिकों में नहीं, यह कोरी कल्पना ही है। द्रव्यादिक त्रिक की तरह, सामान्यादिक त्रिक में भी अनुवृत्ति प्रत्यय होता है। द्रव्यादिकों में स्वरूप सत्ता अंगीकार न की जायगी, तो उनमें खपुष्प की तरह, असत्ता का प्रसंग होगा। इसलिये सकल पदार्थ के भेदों की मान्यता घुटाले में पड़ जायगी। इसलिये पदार्थों को कथंचित् सामान्यविशेषात्मक ही अंगीकार करना युक्तियुक्त है। इस प्रकार उनके लिये अनेकान्त का आश्रय किये बिना और कोई हित-कारी मार्ग नहीं है। यही बात इस कारिका द्वारा स्पष्ट की गई है।

अतत्स्वभावेऽप्यनयोरुपायात्,
गतिर्भवेत्तौ वचनीय-गम्यौ ।
सम्बन्धिनौ चेन्न विरोधि दृष्टम्,
वाच्यं यथार्थं न च दूषणं तत् ॥२७॥

अन्वय—तौ वचनीयगम्यौ संबंधिनौ (च इति) अनयोः उपायात् अतत्स्वभावेऽपि गतिः भवेत् (इति) चेन्न विरोधि दृष्टं (परपक्षे यथार्थं दूषणं वाच्यं) न च तत् (यथार्थं स्वपक्षेऽपि समानत्वात्)

अर्थ—"बन्ध और मोक्ष दोनों वचनीय, गम्य एवं परस्पर अविनाभूत हैं" इस प्रकार इन दोनों तत्वों की कारक और ज्ञापक रूप उपाय से शून्य स्वभाव से भिन्न स्वभाव, सत्स्वभाव रूप तत्व मानने पर भी प्रतिपत्ति हो सकती है, सो ऐसा सत्स्वभावतत्ववादी का कहना ठीक नहीं है । क्योंकि प्रमाण से अन्तरंग एवं बहिरंग तत्व की, जात्यन्तर रूप से ही प्रतिपत्ति होती है । इसलिये सर्वथा अनित्य पक्ष में प्रदत्त दूषण या सर्वथा नित्य पक्ष में प्रदत्त दूषण यथार्थ ही हैं, यह ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये दूषण अपने अपने पक्ष में भी ठीक ठीक रूप से लागू पड़ते हैं ।

भावार्थ—अशून्य स्वभाववादी का यहां इस प्रकार का कहना है, कि शून्य स्वभावतत्ववादी माध्यमिक की मान्यतानुसार भले ही बंध और मोक्ष तत्व की प्रतिपत्ति सांवृत होने से न हो, परन्तु

हमारी, मान्यतानुसार इन दोनों तत्त्वों की प्रतिपत्ति का उपाय होने से, उनकी प्रतिपत्ति तो अच्छी तरह से हो सकती है। क्योंकि परार्थ रूप वचन (कारक रूप उपाय), एवं स्वार्थ रूप प्रत्यक्ष या अनुमान (ज्ञापक रूप उपाय), ये सब उपाय उनकी प्रतिपत्ति कराते हैं। जब ये दोनों तत्त्व वचन रूप परार्थ उपाय द्वारा प्रतिपन्न होते हैं, उस समय उनमें वचनीयता—वचनविषयता आती है। और जब इनकी प्रतिपत्ति के उपाय स्वार्थ रूप प्रत्यक्ष या अनुमान होते हैं, उस समय उनमें गम्यता आती है। प्रत्यक्ष के विषय होने पर प्रत्यक्ष विषयता रूप गम्यता एवं अनुमान के विषय होने पर अनुमेय रूप गम्यता सिद्ध होती है। साथ में यह भी ज्ञात होता है, कि ये दोनों संबंधी परस्पर में अविनाभूत हैं। कारण कि बन्ध के बिना मोक्ष और मोक्ष के बिना बंध तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है। इसलिये बंध का अविनाभावी मोक्ष और मोक्ष का अविनाभावी बंध बन जाता है। बंध पूर्वक मोक्ष होता है, इस अपेक्षा से मोक्ष बंध का अविनाभावी, तथा बंध विशेष की अपेक्षा से, प्रागबद्ध के एक देश रूप से मुक्तिरूपता आने से, मोक्ष में भी बंध पूर्वकता सुघटित होती है। यद्यपि अनादिबंध-संतान की अपेक्षा से उसमें मोक्ष पूर्वकता भी माननी पड़ती है। यदि यह सिद्धांत मान्य न रखा जाय तो बंध में शाश्वतिकता आने से, किसी भी जीव को मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकेगी।

इस प्रकार का यह सत्स्वभावतत्त्ववादी का कथन, हे नाथ !

निर्दोष नहीं है, क्योंकि तत्त्व न तो सर्वथा क्षणिक ही है और न सर्वथा अक्षणिक ही है। कारण कि इस प्रकार के तत्त्वों की व्यवस्था करने वाले प्रमाणों का सद्भाव देखने में नहीं आता है। "सर्वथा क्षणिक तत्त्व मे, सर्वथा अक्षणिक तत्त्व की मान्यता एवं सर्वथा अक्षणिक तत्त्व से, सर्वथा क्षणिक तत्त्व की मान्यता परस्पर में, महान् संघर्ष-विरोध को लिये हुए है।" प्रमाण द्वारा यही प्रतीत होता है। प्रमाण द्वारा उनमें परस्पर में विरोध प्रतीत होने का प्रधान कारण भी यही है, कि कथंचित् नित्यानित्यात्मक रूप से जात्यन्तरित अन्तरंग एवं बहिरंग वस्तु ही, निर्बाध रूप से प्रमाण का विषय मानी गयी है। कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तु की प्रतिपत्ति, सर्वथा क्षणिक एवं सर्वथा अक्षणिक एकान्त तत्त्व की विरोधक है। सम्यक् अनुमान में भी ऐसी ही वस्तु अनुमेय होती हुई मानी गई है। जैसे—

"सर्वं अनेकान्तात्मकं वस्तु वस्तुत्वान्यथानुपपत्तेः" इस अनुमान द्वारा सूत्रकार के इसी अभिप्राय को टीकाकार ने पुष्ट किया है। समस्त पदार्थ अनेक धर्मात्मक हैं, यदि उनमें अनेक धर्मात्मकता नहीं मानी जाय तो उनमें वस्तुत्व ही नहीं सिद्ध हो सकता। यही अनेकधर्मात्मकता ही वस्तु की वस्तुता है। इस प्रकार सर्वथा क्षणिकता अथवा सर्वथा अक्षणिकता रूप मान्य स्वभाव से विरुद्ध कथंचित् क्षणिकत्वाक्षणिकरूप जात्यन्तरस्वभाव की उपलब्धि, वस्तु में सर्वथा एकान्त तत्त्व की मान्यता का निरसन करती है। अतः "वस्तुत्वान्यथानुपपत्तेः" यह स्वभाव-

विरुद्धोपलब्धिरूप अथवा स्वभावानुपलब्धिरूप हेतु समझना चाहिये। इस प्रकार एकान्त से सत्स्वभावतत्त्व का प्रख्यापक कोई भी प्रमाण प्रतीत नहीं होता।

शंका—माना कि सत्स्वभाव तत्त्व का प्रख्यापक कोई भी प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं है, परन्तु इससे उसका अस्तित्व नहीं बन सकता, सो बात नहीं है। क्योंकि उस तत्त्वका समर्थक पर-पक्ष असत्तत्त्व में प्रदर्शित दूषण है। जो तत्त्व में सत्-स्वभावता नहीं मानते हैं, ऐसे बौद्धों के प्रति उसमें उस स्वभावता की सिद्धि के लिये, हम सत्स्वभावतत्त्ववादी यह कह सकते हैं, कि यदि पदार्थ को सर्वथा क्षणिक माना जायेगा, तो उसमें क्रम और यौगपद्य से अर्थक्रियाकारिता नहीं आ सकती है-क्योंकि बौद्धों ने उसमें अर्थक्रियाकारिता से ही वस्तुता मानी है. इसलिये अर्थक्रियाकारिता सिद्ध करने के लिये बौद्धों को यह अवश्य मानना पड़ता है, कि तत्त्व क्षणिक न होकर अक्षणिक है।

उत्तर—इस प्रकार सत्स्वभावतत्त्ववादी यौगों का यह कथन निर्दोष नहीं हो सकता है, क्योंकि जो दोष वे क्षणिकतत्त्ववाद का खंडन करने के लिये देते हैं, ठीक वे ही दोष तत्त्व में सर्वथा अक्षणिकता की मान्यता में भी प्रसक्त होते हैं। फिर यह कैसे मान्य किया जा सकता है, कि क्षणिकत्व ही खरविषाण की तरह क्रम एवं यौगपद्य से, अर्थक्रियाकर्तृत्व से रहित होने के कारण सदोष है। अक्षणिक नहीं। क्योंकि सर्वथा नित्य में भी

तो क्रम एवं योगपद्य से अर्थक्रियाकारिता सुघटित नहीं होती । अतः ये सब दूषणाभास हैं, वास्तविक दूषण नहीं । इसलिये सर्वथा क्षणिकत्व से और सर्वथा अक्षणिकत्व से, अनेकान्त की विरोध होने से निवृत्ति होती है । इसकी निवृत्ति होने से इससे व्याप्त क्रम और अक्रम की भी वहां से निवृत्ति हो जाती है । क्रम और अक्रम की निवृत्ति हो जाने पर, इनसे व्याप्त अर्थ क्रिया कर्तृत्व की भी निवृत्ति वहां से हो जाती है । ऐसी दशा में स्वतः ही वहां अनर्थ क्रिया-कारिता का प्रसंग होने से-अर्थ क्रियाकर्तृत्व के न रहने से, वस्तुत्व ठहरता ही नहीं हैं । अव-स्तुत्व सिद्ध होता है । पदार्थ-वस्तु में ही अर्थक्रियाकारिता क्रम एवं अक्रम से आती है । इसलिये तत्त्व न सर्वथा क्षणिक है और न सर्वथा अक्षणिक है । न एकान्तरूप से उभयात्मक है और न अनुभयात्मक ही । क्योंकि इस प्रकार की एकान्तमान्यता में तत्त्व में अर्थक्रियाकारिता का विरोध आता है । इसलिये सर्वथा एकान्त मान्यता में प्रदत्त दूषण ही, अनेकान्तवस्तुतत्त्व साधक होने से भूषणरूप हैं, इनसे ही अनेकान्त की सिद्धि होती है ।

उपेयतत्त्वाऽनभिलाप्यतावत्,
उपायतत्त्वाऽनभिलाप्यता स्यात् ।
अशेषतत्त्वाऽनभिलाप्यतायां,
द्विषां भवद्युक्त्यभिलाप्यतायाः ॥२८॥

अन्वय—भवद्युक्त्यभिलाप्यतायाः द्विषां अशेषतत्त्वानभि-लाप्यतायां उपेयतत्त्वानभिलाप्यतावत् उपायतत्त्वानभिलाप्यता स्यात् ॥ २८ ॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपकी उक्ति-स्याद्वादनीति की अभि-लाप्यता, स्वरूपादिचतुष्टय की अपेक्षा से समस्त तत्त्वों में कथंचित् सत्त्व है, एवं पररूपादिचतुष्टय की अपेक्षा से उनमें कथंचित् असत्त्व है। इस प्रकार की कथनशैली से विरोध रखने वालों की-"समस्त तत्त्व अवाच्य ही हैं" इस प्रकार की मान्यता में, उपेयतत्त्व की अनभिलाप्यता की तरह उपायतत्त्व में भी अनभि-लाप्यता आती है।

भावार्थ—"समस्त तत्त्व सर्वथा अवाच्य हैं" यदि यही मान्यता एकान्तरूप से अङ्गीकार की जावे, तो हे प्रभो ! जिस प्रकार उपेयतत्त्व-मोक्ष सर्वथा अपलपितुं अशक्य है, उसी प्रकार इसकी प्राप्ति के उपायभूत कारक एवं ज्ञापक तत्त्व भी सर्वथा अवक्तव्य कोटि में आ जाते हैं। अतः यह कहना भी कि 'तत्त्व सर्वथा अवक्तव्य हैं' नहीं बन सकता। यह बात तो स्याद्वाद शैली को अङ्गीकार किया जायगा तभी सुघटित हो सकेगी, अन्यथा नहीं

अवाच्यमित्यत्र च वाच्यभावात्,
अवाच्यमेवेत्ययथाप्रतिज्ञम् ।
स्वरूपतश्चेत्पररूपवाचि,
स्वरूपवाचीति वचो विरुद्धम् ॥२९॥

अन्वय—अवाच्यमेव (तत्त्वं इति स्वीकृतौ) अवाच्यं इत्यत्र च (इत्यस्यैव) वाच्यभावात् "अवाच्यमेव" इति अयथाप्रतिज्ञम् । चेत् स्वरूपतः (अवाच्यं इति द्वितीय पक्षे) स्वरूपवाचि इति वचः,(पररूपेणावाच्यं इति तृतीयपक्षे) पररूपवाचि (इति वचः) विरुद्धम् (प्रसज्येत)

अर्थ—अशेष तत्त्व सर्वथा अवाच्य ही हैं, इस प्रकार की स्वीकृति-मान्यता में "अवाच्य है" इस प्रकार से इसमें ही वाच्यता आ जाने से "अशेष तत्त्व सर्वथा अवाच्य हैं" इस प्रतिज्ञा में अयथार्थता प्रसक्त होती है । 'अशेषतत्त्व स्वरूप से ही अवाच्य हैं" यदि इस प्रकार का द्वितीय पक्ष अङ्गीकार किया जाय तो "समस्त वचन स्वरूप का कथन करने वाले हैं" ऐसा कथन एवं "अशेष तत्त्व पर रूप से ही अवाच्य हैं" ऐसा यदि तृतीय पक्ष स्वीकार किया जाय तो समस्त वचन पररूप के वाचक हैं, ऐसा कथन विरुद्ध प्रसक्त होता है ।

भावार्थ—"अवाच्यमित्यत्र" यहां "इत्यत्र" की जगह "इत्यस्य" और "च" की जगह "एव" ऐसा ज्ञात करना चाहिये । "सर्वथा अशेषतत्त्व अवक्तव्य है" इस प्रकार अवक्तव्यैकान्तवादी के अवक्तव्यैकान्तवाद को विसर्जित करने के अभिप्राय

नोट—सर्वथा नित्य में अथवा सर्वथा अनित्य में क्रम एवं अक्रम से अर्थक्रियाकारिता नहीं बन सकती है । इसे संक्षेप से जानने के लिये देखो स्याद्वादमंजरी की ५ वीं कारिका की टीका ।

से सूत्रकार उससे इन तीन विकल्पों का समाधान पूछ रहे हैं। वे तीन विकल्प ये हैं —

(१) क्या समस्त वस्तु सर्वथा अवाच्य है? या–

(२) समस्त वस्तु स्वरूप की अपेक्षा सर्वथा अवाच्य है? या

(३) समस्त वस्तु पर रूप की अपेक्षा सर्वथा अवाच्य है?

इनमें प्रथम पक्ष की मान्यता-प्रतिज्ञा इसलिये अयथ-सदोष, झूंठी पड़जाती है कि वह "अवाच्य है" इस शब्द द्वारा वाच्य हो जाता है। सर्वथा अवाच्य तत्त्व "अवाच्य" इस शब्द द्वारा भी प्रकट नहीं किया जा सकता, वाच्य नहीं हो सकता। द्वितीय पक्ष अङ्गीकार करने पर "स्वरूपवाचि सर्वं वचः" समस्त वचन स्वरूप के प्रतिपादक होते हैं" इस प्रकार का कथन विरुद्ध वचन वाला होता है। अतः यह पक्ष भी अयथप्रतिज्ञावाला है। इसी प्रकार तृतीय पक्ष भी अयथ प्रतिज्ञावाला हो जाता है। क्योंकि पररूप की अपेक्षा सर्वथा अवाच्यता तत्त्व में स्वीकृत करने पर, "पररूपवाचि सर्वं वचः" यह प्रतिज्ञा (कथन) विरुद्ध पड़ती है। इसलिये तत्त्व न भावमात्र है, न अभाव मात्र है, न उभयमात्र है, और न अनुभयमात्र है, अवाच्य है। ये सब ही एकान्त मान्यताएँ मिथ्याप्रवाद हैं। हे नाथ! आपकी अनेकान्त मान्यता के द्वारा ये प्रतिषिद्ध हो जाती हैं। इसी प्रकार सद्वाच्य, असद्वाच्य, उभयावाच्य और अनुभयावाच्य भी सर्वथा तत्त्व नहीं हैं। यह भी अनेकान्त शासन द्वारा निर्लोठित हो चुका है।

सत्याऽनृतं वाऽप्यनृताऽनृतं वाऽ-
प्यस्तीह किं वस्त्वतिशायनेन ।
युक्तं प्रतिद्वन्द्व्यनुबंधिमिश्रं,
न वस्तुतादृक्त्वदृते जिनेदृक् ॥२०॥

अन्वय—इह (किंचित् वचनं) प्रतिद्वंद्वि-अनुबन्धिमिश्रं (सत्) सत्यानृतं वा अनृतानृतं वा अस्ति । जिन ! ईदृक् त्वदृते वस्तु-अतिशायनेन (प्रवर्तमानं वचनं) किं युक्तम् ? (नैव युक्तम्) न तादृक् वस्तु ।

अर्थ—कथंचित् अवक्तव्यतत्त्व की मान्यता में, कोई २ वचन प्रतिद्वन्द्वि एवं अनुबंधी से मिले हुए होने के कारण, सत्यानृत ही एवं अनृतानृत ही होते हैं । हे जिन ! इस प्रकार का वस्तु के अतिशय से प्रवर्तमान वचन, आपके सिवाय अन्यत्र क्या युक्त हो सकता है ? नहीं हो सकता । क्योंकि आपका मान्य अनेकान्तात्मक तत्त्व वास्तविक है, और आपके सिवाय एकान्तवादियों का मान्य एकान्त तत्त्व अवास्तविक है ।

भावार्थ—वस्तु कथंचित् अवक्तव्य है, इस प्रकार की प्रतिज्ञा में, तत्त्व का प्रतिपादक वचन सत्य ही होता है अथवा असत्य ही होता है, इस प्रकार की एकान्त मान्यता का इस कारिका द्वारा सूत्रकार ने निरसन किया है । इसमें वे प्रदर्शित करते हैं, कि कोई २ वचन सत्यानृत होते हैं, कोई २ अनृतानृत होते हैं ।

सत्य होकर भी जो अनृत होते हैं, उनमें कारण प्रतिद्वन्द्वि की भिन्नता है, जैसे-"शाखायां चन्द्रमसं पश्य" यहां शाखाके निकट चन्द्रमा को देखो" इस वाक्य में चन्द्रमा के अवलोकनरूप संवादक की प्रादुर्भूति होने से "चन्द्रमसं पश्य" इतने वाक्यांश में सत्यता तथा "शाखायां" इतने वाक्यांश में असत्यता—अनृतता है, क्योंकि चन्द्रमा में शाखा के निकट रहने का अवलोकन होना विसंवादक है, भ्रान्त है। इसीलिये इस विसंवादकारणक वचन में अनृतता आई है। सत्य एवं अनृत ये दोनों वस्तु के अंश हैं। इन अंशों से युक्त होने के कारण ही वचनों में कितनेक अंश में सत्यता एवं कितनेक अंश में असत्यता आती है।

इस प्रकार के वचनों से भिन्न वचन अनृतानृत होते हैं। क्योंकि इनमें अनुबंधों की मिश्रता रहती है। "एकस्मादनृताद्-परमनृतमनुबंधि समभिधीयते" एक अनृत से अपर अनृत अनुबंधि कहलाता है। वह इस प्रकार समझना चाहिये—"चन्द्रद्वयं गिरौ पश्य" यहां "पर्वत पर दो चन्द्र देखो" दो चन्द्र का प्रतिपादन करने वाला वचन जिस प्रकार (क्योंकि चन्द्रमा एक होता है इसलिये) असत्य की कोटि में आया हुआ माना गया है, उसी प्रकार "चन्द्रमा का पर्वत पर प्रतिपादन करने वाला वचन भी अनृत ही है। क्योंकि इन दोनों ज्ञानों में विसंवादकता है। संवादकता नहीं। जिन वचनों का उत्तरकाल में संवाद

उपलब्ध होता है, वहां सत्यता मानी जाती है। "वा" शब्द सूत्र में एवकार अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इसलिये हे जिन! कथंचित् वाच्यता में कोई २ वचन सत्यानृत, एवं कोई २ वचन अनृतानृत ही होते हैं। इस प्रकार की मान्यता से विरुद्ध सर्वथा एकान्त मान्यता में इस प्रकार के वचनों का प्रयोग नहीं बन सकता है। क्योंकि वहां पर वस्तु में अतिशायन प्रसिद्ध नहीं हो सकता।

सहक्रमाद्वाविषयाऽल्पभूरि-
भेदेऽनृतंभेदि न चाऽऽत्मभेदात्।
आत्मान्तरं स्याद्भिदुरं समं च,
स्याच्चाऽनृताऽऽत्माऽनभिलाप्यता च ॥३१॥

अन्वय—विषयाल्पभूरिभेदे अनृतं भेदि (स्यादेव) न च आत्मभेदात। आत्मान्तरं (तु) स्यात् भिदुरं स्यात् समं क्रमात् च (उभयं) सह स्यात् अनृतात्मा अनभिलाप्यता च।

अर्थ—वाच्य पदार्थ के अल्प और अनल्प रूप सत्यादि-विशेषणों की अपेक्षा भेद होने पर, अनृतभेद वाला होता ही है। सामान्य की अपेक्षा से नहीं। इसलिये विशेषण के भेद से अनृत आत्मान्तररूप अपने विशेष लक्षण की अपेक्षा में कथंचित् भेदस्वभाव वाला, विशेषण भेद के अभाव में कथंचित् अभेद स्वभाव वाला, एवं "च" शब्द से गृहीत क्रमार्पित भेदों की

अपेक्षा से उभय स्वभाव वाला होता है। भेदाभेद दोनों धर्मों की युगपत् प्रधानता में वही अनृत कथंचित् अनभिलाप्य-अवक्तव्य भी होजाता है।

भावार्थ—शंकाकार ने यहां यह प्रश्न किया, कि आपने जो ३० वें सूत्र में अनृत के "सत्यानृत" एवं "अनृतानृत" इस प्रकार जो भेद किये हैं, वे संगत नहीं हैं, क्योंकि अनृत अनृत ही रहेगा, वह सत्य नहीं हो सकता। सत्य सत्य ही रहेगा, वह अनृत नहीं हो सकता। इसका सप्तभंगी गर्भित समाधान करते हुए सूत्रकार यहां यह प्रदर्शित कर रहे हैं, कि पूर्वोक्त भेद इस प्रकार से बन जाते हैं–जिस वचन के अभिधेय में असत्य की अल्पता होती है, और सत्य की अधिकता होती है, वह वचन सत्यानृत कहा जाता है। यहां "सत्यानृत" में पठित सत्य विशेषण, अनृत को भेद विशिष्ट जाहिर करता है।

जिस वचन के अभिधेय में, असत्य की अधिकता होती है और सत्य की अल्पता होती है, वह अनृतानृत वचन कहलाता है। इस "अनृतानृत" में आगत प्रथम अनृत विशेषण, इस अनृत को पूर्व अनृत से भिन्न प्रकट करता है।

इस प्रकार शंकाकार ने जो यह पूछा है कि किञ्चित् अनृत वचन भी सत्य, किञ्चित् सत्य वचन भी अनृत, एवं कोई २ वचन अनृतानृत, सो इस प्रकार यह अनृतभेद विशिष्ट कैसे हो सकता है: उसका इससे अच्छी तरह समाधान हो जाता है।

विशेषणों की अपेक्षा से अनृत में भेद प्रतिपत्ति बाधित नहीं हो सकती हैं। हां, यदि अनृत सामान्य की अपेक्षा से उसे भेद सहित माना जाता, तो निःसंदेह पूर्वोक्तरूप से कथन शङ्कास्पद हो सकता। कारण कि सामान्य कथन में विशेष कथनरूप भेद नहीं होता है। अर्थात् सामान्य-अनृत स्वरूप से भेद प्रतिपादित नहीं होता है। यह भेद प्रतिपादन तो विशेषरूप-सत्यादि विशेषणभेद की अपेक्षा से ही हुआ है। क्योंकि ये विशेषण भेद अनृत के निज विशेष लक्षण हैं। अतः इनमें सत्यादि विशेषणों की अपेक्षा से भेद है ही। इसलिये अनृत को भेद विशिष्ट मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

सूत्रकार ने सूत्र में भिदुरं "समं च" इन दो शब्दों से अनृत में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद इन दो भंगों का प्रदर्शन तो किया ही है। "च" शब्द से एवं "सहक्रमाद्वा" इस पद के "क्रम" शब्द से उन्होंने यह भी सूचित किया है, कि जिस समय दोनों धर्म क्रम से मुख्य रूपमें एकत्र अपेक्षित होते हैं, उस समय कथंचित् भेदाभेदात्मक रूप तृतीय भंग बन जाता है। तथा जिस समय ये दोनों ही धर्म एकत्र—अनृत में, सह-युगपत् मुख्य रूप से विवक्षित होते हैं, उस समय वह कथंचित् अनभिलाप्य-अवक्तव्य हो जाता है। इस प्रकार "स्यात् अनृत भिदुरं" "स्यात् अनृत समं-अभिदुरं" "स्यात् अनृतं अर्पणा-क्रमेण भिदुराभिदुरं" "स्यात् युगपत् विवक्षया अनृतं अवक्तव्य"

ये ४ भंग बन जाते हैं। शेष भंगों की संगृहीति, अन्तिम पाद के "च" इस शब्द से हुई है। तृतीय भंग को ग्रहण करने के लिये "सहक्रमाद्वा" इस शब्द में "क्रम" शब्द को पहिले ग्रहण करना चाहिये। व्युत्क्रम कथन सूत्रकार ने छन्दवश ही किया है। प्रथम भंग को एवं चतुर्थ भंग को, द्वितीय भंग को और चतुर्थ भंग को, तथा तृतीयभंग[1] को एवं चतुर्थभंग को, कि जिनमें क्रम रूप से एवं सहरूप से भिदुरादि धर्मों की विवक्षा हुई है, मिलाने से अवशिष्ट ३ भंग और बन जाते हैं। इस प्रकार अनृत में सूत्रकार ने सप्तभंगी प्रकट कर, शंकाकार की शंका का समाधान अनेकान्त की शैली से किया है। अतः सत्यानृत एवं अनृतानृत, इस प्रकार से अनृत का भेद कथन अबाध्य है।

न सच्च नाऽसच्च न दृष्टमेक-
मात्मान्तरं सर्वनिषेध-गम्यम्।
दृष्टं विमिश्रं तदुपाधि-भेदात्
स्वप्नेऽपि नैतत्त्वदृषेः परेषाम् ॥३२॥

अन्वय—(तत्त्वं) न सत् (दृष्टं) न असत् च (दृष्टं)। सर्वनिषेधगम्यं एकं आत्मान्तरं (अपि) न दृष्टं। उपाधिभेदात् तत् विमिश्रं दृष्टं। त्वदृषेः परेषां एतत् स्वप्नेऽपि न (दृष्टं)।

१–किन्हीं २ ग्रन्थों में तृतीयभंग की जगह चतुर्थभंग और चतुर्थभंग की जगह तृतीय भंग भी देखने में आता है।

अर्थ—तत्त्व सर्वथा न सत् स्वरूप ही प्रतीत होता है, और न असत् स्वरूप ही। परस्पर निरपेक्ष सत् असत् रूप से भी, वह प्रतीतिकोटि में नहीं आता है। इसी प्रकार सत्, असत्, उभय, एक, अनेक आदि धर्मों के प्रतिषेध से गम्य, आत्मान्तर रूप एक परमब्रह्मतत्त्व भी संभवित नहीं होता है। किन्तु उपाधि-विवक्षा के भेद से, अनेक धर्मों से मिश्रित हुआ तत्त्व ही प्रतीति का विषय देखा गया है। अतः हे नाथ! महर्षि आपसे भिन्न मदादि एकान्तवादि-वादियों का मान्य तत्त्व स्वप्न में भी प्रतीति का विषय नहीं होता है।

भावार्थ—शंकाकार कहते हैं, कि आपने जो ३० वें श्लोक में अतिशायन से वस्तु में अनेक धर्मों की सिद्धि की है, और इसी विषय को लेकर अनृत के भी सत्यानृत, अनृतानृत आदि भेद प्रदर्शित किये हैं, सो सब यह कथन असंभव है, क्योंकि वस्तु में अतिशायन संभव नहीं, वह तो सदा सदेकरूप से ही प्रतीति का विषय होती है। कोई कहता है, वस्तु सदेकरूप न होकर असत् स्वरूप ही है। ब्रह्माद्वैतवादी का कथन है, कि न वस्तु सत् एक रूप है, और न असद् एकान्त रूप है; किन्तु इन समस्त धर्मों से शून्य एक परमब्रह्मस्वरूप है। इस प्रकार भिन्न२ शङ्काकारों की मान्यता हृदय में धारण कर, सूत्रकार उन समस्त शंकाओं का निराकरण करते हुए कहते हैं—

हे नाथ! अन्य जैन दार्शनिक ग्रन्थों में, यह बात पुष्ट प्रमाणों से समर्थित हो चुकी है, कि सत्ताद्वैत रूप तत्त्व नहीं

है। कारण कि इसकी एकान्त मान्यता में, सकल विशेषणों का अभाव हो जाता है। घट की सत्ता पट की सत्ता आदि अवान्तर सत्तारूप विशेषणों का अस्तित्व, परमसत्ता की अद्वैतता में बन नहीं सकता है। और न यह भी प्रतीत होता है, कि परमसत्ताद्वैत रूप तत्त्व इन अपने विशेषरूप विशेषणों से रिक्त है। जिस प्रकार सर्वथा असत् तत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होता है, उसी प्रकार एकान्त रूप से मान्य सन्मात्र तत्त्व अथवा असन्मात्र तत्त्व भी प्रमाण प्रतिपन्न नहीं होता है। तत्त्व का यह स्वभाव है, कि वह स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से कथंचित् सत्स्वरूप, एवं परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से कथंचित् असत् स्वरूप प्रतीत होता है। इसी प्रकार क्रमार्पित उभय की विवक्षा में, उसमें परस्पर सापेक्ष सद् असदात्मकता दृष्ट होती है। इस तरह सूत्रकार ने यहां पर भी समस्त तत्त्वों में सदात्मका सप्तभंगी रूप से प्रतिपादित की है। सहार्पित द्वैत की विवक्षा में तत्त्व में कथंचित् अवक्तव्यता रूप चतुर्थ भंग, एवं चतुर्थ भंग और प्रथम भंग के संयोग से ५ वां भंग, पंचम और चतुर्थ भंग के संयोग से ६ वां भंग और तीसरे भंग के संयोग से सातवां भंग बना हुआ प्रकट किया है।

सूत्रस्थ "च" शब्द समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इससे तृतीय भंग का ग्रहण हुआ है। दूसरा "च" शब्द वाक्यालंकार में आया है। समुच्चयार्थक "च" शब्द से यह बात पुष्ट की है, कि परस्पर निरपेक्ष सद् और असत् संभवित नहीं हैं। क्योंकि

कोई सा भी ऐसा प्रमाण नहीं है, जो परस्पर निरपेक्ष सत् असत् हैं, इस बात का समर्थन करता हो । अतः यह बात माननी पड़ती है, कि वस्तु सद् असद् आदि धर्मों से मिश्र ही प्रमाण का विषय है । इस प्रकार वस्तु में अति शायन होने से, कोई वचन सत्यानृत और कोई २ वचन अनृतानृत, हे नाथ ! अनेकान्त के नायक आपके शासन में ही घटित होते हैं । आप से भिन्न सदादि एकान्तवादियों के यहां तो यह बात स्वप्न में भी संभवित नहीं होती है ।

> प्रत्यक्ष-निर्देशवदप्यसिद्ध-
> मकल्पकं ज्ञापयितुं ह्यशक्यम् ।
> विना च सिद्धेर्न च लक्षणार्थो,
> न तावक-द्वेषिणि वीर ! सत्यम् ॥३३॥

अन्वय—हि अकल्पकं ज्ञापयितुं अशक्यं (अतः) प्रत्यक्ष-निर्देशवत् अपि असिद्धम् । सिद्धेः विना न च लक्षणार्थः (संभवति) । वीर ! तावकद्वेषिणि सत्यं न (संभवति) ।

अर्थ—"कल्पना रहित अभ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष है" यह प्रत्यक्ष का लक्षण किसी भी प्रमाण द्वारा ज्ञापित नहीं हो सकता है । इसलिये उसमें प्रत्यक्ष से निर्देशवत्ता भी असिद्ध है । सिद्धि के बिना लक्षणार्थ संभवता नहीं है । अतः हे वीर ! आपके मत से विद्वेष रखने वाले, सदादि एकान्त वादियों के एकान्तवाद में, एकान्ततः सत्य सिद्ध ही नहीं हो सकता है ।

भावार्थ—"निर्विकल्पक ज्ञान ही सत्य है, क्योंकि इसमें ही निरंशरूप से वस्तु का प्रतिभासन होता है।" 'यह धर्मी है ये इसके धर्म हैं' इस प्रकार धर्मि धर्मात्मक वस्तु के प्रतिभास के पश्चात् उद्भूत विकल्पात्मक ज्ञान से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान सत्य नहीं है। क्योंकि इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में निरंश वस्तु का प्रतिभास नहीं होता है। यह धर्मि-धर्मात्मक व्यवहार सब काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। सविकल्पक ज्ञान से तो सांश वस्तु की ही प्रतिपत्ति होती है। अतः सम्पूर्ण कल्पनाओं से रहित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा ही, निरंश स्वलक्षण का दर्शन होता है, कल्पनात्मक प्रत्यक्ष से नहीं। यह बात सिद्ध है और यही सत्य है" बौद्ध के इस सिद्धान्त का समाधान सूत्रकार ने इस श्लोक द्वारा किया है।

प्रत्यक्ष से देखकर "ये नीलादिक हैं" इस प्रकार के वचन के बिना, जो अंगुलि के इशारे से उनका प्रदर्शन कराया जाता है उसका नाम प्रत्यक्ष निर्देश है। प्रत्यक्ष निर्देश में "वत्" यह मतुप् प्रत्यय का है। बौद्धों का यह कथन है कि "प्रत्यक्ष कल्पना से रहित है" इसका साधक-ज्ञापक-स्वयं प्रत्यक्ष है। "प्रत्यक्षं कल्पना-पोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति।" इस प्रकार सूत्रकार का यह कहना है, कि जब प्रत्यक्ष स्वयं अकल्पक–कल्पना जिसमें नहीं है, ऐसा है तो वह किसी भी प्रमाण द्वारा ज्ञापयितुं शक्य ही नहीं हो सकता है, उस विषय में संदिग्ध बने हुए जिज्ञासुओं के प्रति वह किसी भी प्रमाण द्वारा प्रतिपादन करने योग्य ही नहीं बन सकता,

अन्यथा उसमें अकल्पकत्व का अभाव मानना पड़ेगा। दूसरे अपने में स्वयं प्रत्यक्ष ही अकल्पकत्व का समर्थक–साधक माना जाय, तो इस बात को बिना प्रमाण के प्रतिवादी प्रमाणरूप से मान्य भी कैसे कर सकते हैं। बौद्ध भले ही मत व्यामोह से इसको स्वीकार करलें। अपना प्रत्यक्ष अन्य प्रतिवादी के लिये थोड़े ही संवेद्य होता है।

यदि कहा जाय, कि प्रत्यक्ष में कल्पना के अभाव का ज्ञापक अनुमान है, सो भी ठीक नहीं। कारण कि साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से बंधा जो लिङ्ग होता है, उसी से अनुमान का उत्थान होता है। प्रत्यक्ष में कल्पनापोढरूप साध्य के साथ, अविनाभावरूप सम्बन्ध से बंधा हुआ, कोई सा भी लिङ्ग प्रतिपन्न संभवित ही नहीं है। दूसरे, जिन्होंने लिङ्ग और लिङ्गी का सम्बन्ध गृहीत ही नहीं किया है, उनके लिये वह अनुमान ज्ञान प्रत्यक्ष कल्पना रहित है, इस बात का ज्ञापन कराने के शक्तियुक्त ही नहीं हो सकता है। यदि इस पर यह कहा जाय, कि जिन्होंने लिङ्ग और लिङ्गी का सम्बन्ध ज्ञात कर लिया है, उनके लिये अनुमान ज्ञान "प्रत्यक्ष कल्पना रहित है" इस सिद्धान्त का ज्ञापक हो जायगा, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, कारण कि उनके लिये इस प्रकार का ज्ञापन कराना कोई खास महत्त्व नहीं रखता, अनर्थक है। भला ऐसा भी कोई होगा, जो स्वयं प्रत्यक्ष को अकल्पक एवं अकल्पक रूप साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से युक्त लिङ्ग को जानता हुआ भी, फिर

उसे अकल्पक न मानेगा ? अवश्य ही मानेगा । यदि इसके समाधान निमित्त यह कहा जाय कि यद्यपि ज्ञाता इस बात को जानता है, कि प्रत्यक्ष अकल्पक है—और यह उसका अविनाभावी लिङ्ग है, फिर भी उसे विपरीत समारोप का संभव होने से अनुमान द्वारा इस बात का ज्ञापन कराया जाता है, अतः इस अपेक्षा से अनुमान में सार्थकता सिद्ध हो जाती है, सो ऐसा कथन भी ठीक नहीं, कारण कि समारोप के व्यवच्छेद कराने से जो उसमें सार्थकता सिद्ध करनी चाही है, सो इस समारोप व्यवच्छेद में भी यही प्रश्न उपस्थित होता है, कि यह अनुमान किस व्यक्ति के समारोप का व्यवच्छेदक होगा ? क्या जिसने साध्य साधन के सम्बन्ध को जान लिया है उसके, या जिसने साध्य साधन के सम्बन्ध को नहीं जाना है उसके ? प्रथम पक्ष तो इसलिये उचित नहीं माना जा सकता, कि साध्य और साधन के अविनाभाव सम्बन्ध को जानने वाले के लिये, उस विषय में समारोप ही उद्भूत नहीं हो सकता। कारण, प्रत्यक्ष में अकल्पकता का साधक तदविनाभावी लिङ्ग यह है । इस प्रकार दृढ रूप से प्रतिपत्ता के प्रति कोई यदि उस विषय में विपरीत समारोप का उद्भावन करेगा भी तो उस करने वाले में ही विपरीत समारोप का प्रसंग माना जायगा, प्रतिपत्ता में नहीं। साध्य और साधन का परस्पर में अविनाभाव सम्बन्ध जिसे ज्ञात ही नहीं है भला, कहो तो सही, हेतुप्रदर्शन की उसके प्रति क्या कीमत हो सकती है। अन्धे को दर्पण दिखाने से भी

क्या पदार्थ का बोध हो सकता है ? यदि नहीं, तो इसी प्रकार साध्य और साधन के अविनाभाव सम्बन्ध के ज्ञान से शून्य व्यक्ति को, हेतु प्रदर्शन समारोप का व्यवच्छेदक भी कैसे हो सकता है। यदि फिर भी यह कहकर अनुमान में सार्थकता प्रसिद्ध की जावे, कि जिसने पहिले कभी अकल्पक रूप साध्य का और लिङ्ग का परस्पर में अविनाभाव रूप से सम्बन्ध ग्रहण तो कर लिया, परन्तु कालान्तर में किसी कारणवश उन दोनों का सम्बन्ध उसे विस्मृत हो गया, अनुमान ने वर्तमान में अब यह काम किया कि उसकी उस विस्मृति को दूर कर दिया, साध्य और साधन के सम्बन्ध का स्मरण करवा दिया। बस, यह उसका स्मरण करवाना ही अनुमान का समारोप व्यवच्छेद-रूप कार्य है। सो यह भी युक्त नहीं है, कारण कि जब तक यह निश्चय नहीं हो जाता, कि प्रत्यक्ष अकल्पक है और उसके यह स्वभाव अथवा कार्यरूप लिङ्ग है—तब तक दोनों का सम्बन्ध ग्रहण करना ही असम्भव है। व्यवहार में भी तो ऐसा ही होता है—जब हम यह जान जाते हैं, कि यह अमुक् वस्तु है और उसका यह कार्य है, तब उसके सम्बन्ध का निश्चय करते हैं। प्रकृत में तो अभी तक यह निश्चय ही नहीं हो सक रहा है कि प्रत्यक्ष कल्पना से रहित है और उसका यह कार्य अथवा स्वभाव लिङ्ग है। फिर कहो इनके सम्बन्ध का ग्रहण—निश्चय कैसे हो सकता है। अतः यह गत्यन्तराभावात् मानना पड़ता है, कि प्रत्यक्ष अकल्पक है, इसका निश्चायक जब कोई भी प्रमाण

नहीं है, तब उसकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? सिद्धि हुए बिना "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं" यह लक्षणार्थ—प्रत्यक्ष का प्रत्यायक कैसे हो सकता है। प्रत्यक्ष की सत्ता में ही लक्षणार्थ संगत होता है, अन्यथा नहीं। इसलिये हे वीर ! आपके साथ द्वेष रखने वाले एकान्तवादियों के यहां एकान्ततः सत्य साधयितुं शक्य ही नहीं हो सकता है।

कालाऽन्तरस्थे क्षणिके ध्रुवे वाऽ-
पृथक्पृथक्त्वाऽवचनीयतायाम् ।
विकार-हानेर्न च कर्त्तृ-कार्ये
वृथा श्रमोऽयं जिन ! विद्विषां ते ॥३४॥

अन्वय—कालान्तरस्थे (वस्तुनि प्रतिज्ञायमानेऽपि) क्षणिके ध्रुवे वा अपृथक्पृथक्त्वावचनीयतायां विकारहानेः कर्तृकार्ये न (स्याताम्) (अतः) जिन ! ते विद्विषां अयं श्रमः वृथा।

अर्थ—कालान्तरस्थायी वस्तु के मानने पर कालान्तरस्थायी होने पर भी, वस्तु को सर्वथा अपरिणमनशील स्वीकार करने पर, क्षणिक एवं कूटस्थ नित्य की तरह, वहां भिन्नत्व और अभिन्नत्व की अवचनीयता में विकार की हानि होने से, कर्त्ता और कार्य का आरम्भ संभव नहीं हो सकता है।

भावार्थ—सूत्रकार इस श्लोक में यह प्रकट कर रहे हैं, कि जिस प्रकार आपके साथ विद्वेष रखने वालों के यहां सत्य संभक्ति नहीं है, उसी प्रकार हे नाथ ! उनके यहां शुभ अथवा

अशुभ कर्मों का न कोई कर्त्ता बन सकता है, और न शुभ अशुभ रूप कार्य ही बन सकता है।

अपनी उत्पत्ति के समय से लेकर वस्तु का द्वितीयादिक क्षणों में रहने का नाम कालान्तरस्थ है। वस्तु अपनी उत्पत्ति के समय से लेकर अन्य समयों तक सर्वथा अपरिणामनशील होकर रहती है, इस प्रकार की एकान्तमान्यता यदि अङ्गीकृत की जाय, तो जिस प्रकार निरन्वय विनाशी क्षणिक वस्तु में, एवं निरतिशय कूटस्थ नित्य में क्रम और अक्रम के विरोध से, क्रिया की असम्भवता में कर्तृत्व नहीं आता है, उसी प्रकार उसमें भी कर्तृत्व नहीं बन सकता है। अथवा जब वस्तु सर्वथा अपरिणमनशील मानी जावेगी, तो उसमें विकार न हो सकने के कारण जो विकार जनकत्व की अपेक्षा अन्य पदार्थ में कर्तृत्व आता है, वह नहीं आ सकता है। कर्त्ता के अभाव में तदविनाभावी कार्य की भी सिद्धि नहीं हो सकती है। समीहित कार्य के कारक का नाम ही कर्त्ता है। कर्त्ता के सद्भाव में ही, स्वयं समीहित कार्य की सिद्धि होती है। वस्तु जब सर्वथा अपरिणामी मानी जायगी, तो यह निश्चित है कि उसमें परिणाम—उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य हो ही नहीं सकता। अपने मूलद्रव्य को न छोड़कर वस्तु में पूर्वाकार का त्याग, उत्तराकार का उपादान रूप परिणमन के सद्भाव-का नाम ही परिणाम है। यह परिणाम सर्वथा अपरिवर्तनीय वस्तु में बन ही नहीं सकता है। जहां विकार की हानि है वहां उससे व्याप्त क्रम और अक्रम की भी हानि माननी पड़ती है।

व्यापक के अभाव में व्याप्य का अस्तित्त्व नहीं होता है। विकार व्यापक है, क्रम और अक्रम उसके व्याप्य हैं। अतः इसकी निवृत्ति में इनकी निवृत्ति होना स्वतः ही सिद्ध है। क्रम एवं अक्रम ये क्रिया के व्यापक हैं। अपने व्यापक की निवृत्ति से, व्याप्य रूप क्रिया की निवृत्ति हो जाती है। जब क्रिया का ही अपाय हो गया, तो ऐसी दशा में कर्त्ता की भी सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि क्रिया का आश्रय स्वतन्त्र द्रव्य ही कर्त्ता माना गया है। कर्ता के अभाव में स्वर्ग एवं अपवर्ग रूप कार्य की सिद्धि न हो सकने से, इनकी प्राप्ति के लिये सर्वथा एकान्त-वादियों का क्रियमाण तपश्चर्यारूप परिश्रम सर्वथा निष्फल है।

शंका—क्षणिक वस्तु के मानने पर अवस्थित-ध्रौव्यरूप अन्वयि द्रव्य का अभाव होने से, विकार की हानि अवश्य हो सकती है। इसी प्रकार कूटस्थ नित्य पदार्थ की मान्यता में भी, पूर्वाकार के विनाश का एवं उत्तराकार के उत्पाद का अभाव होने से, विकार का अभाव हो जाता है। परन्तु कालान्तरस्थायी वस्तु के मानने में विकार का अभाव कैसे हो सकता है? क्योंकि उसमें पूर्वाकार का विनाश और उत्तराकार के उत्पाद रूप विकार के होने की संभावना मानी है।

उत्तर—इस प्रकार का कथन प्रामाणिक नहीं है। क्योंकि कालान्तर स्थायी (अपनी उत्पत्ति क्षण से अधिक, परन्तु परि-मित समय तक रहने वाली) वस्तु भी कि जो अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् है और इसीलिये जो उत्पन्न हुई मानी जाती है।

जब अपनी स्थिति के बाद सर्वथा निरन्वयरूप से नष्ट हो जाती है, तो जिस प्रकार एक क्षणस्थायी वस्तु का आगे अन्वय नहीं चलता, उसी प्रकार इस क्षणस्थायी वस्तु का भी आगे अन्वय नहीं चल सकता है। अतः इसमें भी क्षणस्थायी वस्तु की मान्यता से कोई विशेषता नहीं बन सकने के कारण, विकृति की हानि माननी ही पडती है। मतलब इसका यह है-"यदेवार्थ क्रियाकारि तदेव परमार्थसत्" कि जो अर्थ क्रियाकारी होता है, वह परमार्थ से सत् वस्तु माना जाता है। जिस प्रकार से क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रियाकारिता नहीं सुघटित होती है, उसी प्रकार कालान्तरस्थायी वस्तु मानने पर भी, इसमें अर्थक्रियाकारिता नहीं बनती है। यदि इसे अर्थक्रियाकारी रूप विकृति का कर्त्ता माना जाय तो यहां यह प्रश्न होता, कि यह कालान्तरस्थायी रूप वस्तु सत् रूप अर्थ क्रिया की जनक होती है या असत् रूप अर्थ क्रिया की? सत् रूप अर्थ क्रिया की जनक मानने से तो, इसका यह अर्थ हुआ जो कार्य पहिले मौजूद था उस कार्य को ही इसने किया, इस प्रकार की मान्यता अनवस्था दोष से दूषित मानी गई है। असत् रूप अर्थ क्रिया का यह जनक इसलिये नहीं हो सकता, कि इसमें खर विषाण जैसे असत् पदार्थों का प्रादुर्भाव मानना पड़ेगा। सत् असत् उभयरूप पदार्थ बौद्ध सिद्धान्त में स्वीकृत ही नहीं किया गया है।"

शङ्का—कालान्तरस्थायी वस्तु की जो आप क्षणिक पदार्थ के साथ अविशेषता प्रकट करते हैं-तुलना करते हैं, सो ठीक

नहीं है। क्योंकि कालान्तरस्थायी आत्मादिक नित्य पदार्थ जो अन्तसाक्ष्य हैं, जिससे पूर्वानुभूत पदार्थ की स्मृति होती है और पूर्व पर्याय एवं उत्तर पर्याय की संकलना जिसमें होती है, अर्थ-क्रिया के करने में जब व्यापारशाली होते हैं, तब इनमें कर्तृत्व एवं इनके द्वारा क्रियमाण में कार्यत्व बन जाता है–क्षणिक में यह सब बातें नहीं बनती हैं। न वह पूर्वानुभूत की स्मृति का हेतु होता है। न वह पूर्व पर्याय एवं उत्तरपर्याय की संकलना कर सकता है और न वह कालान्तरस्थायी ही होता है।

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है। कारण कि सर्वथा कूटस्थ नित्य में, एक कर्तृकता नहीं बनती है। आत्मा पदार्थ जब सर्वथा कूटस्थ नित्य माना जावेगा, तो उसमें पूर्वानुभूति की न तो स्मृति हो सकती है, और न पूर्वापर पर्यायों की संकलना ही बन सकती है। "जिसे मैंने पहिले जिस पदार्थ को देखा था, वही मैं अब उस पदार्थ का स्मरण करता हूं" इस प्रकार प्रत्यक्ष और स्मृति के प्रति एक कर्तृकता तथा प्रत्यक्ष और स्मृति का संकलनात्मक जो प्रत्यभिज्ञान होता है, उसके प्रति भी आत्मा में एक कर्तृकता कैसे आ सकती है। उसमें एक कर्तृकता बिना विकार के नहीं आती है। स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान के प्रति एक कर्तृकता पूर्वाकार का त्याग और उत्तराकार का उपादान रूप विकार हुए बिना संभवित ही नहीं हो सकती है। स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान ज्ञान के प्रति आत्मा को हेतु–कर्ता–मानना यही उसमें विकार है।

शंका—नित्य मानने पर आत्मा में कर्तृत्व सध जाता है, क्योंकि उसमें बुद्धि आदि के अतिशय का सद्भाव पाया जाता है। अर्थात् आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने पर भी, स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान रूप विकार के प्रति उसमें एक कर्तृकता घटित हो जाती है। स्मरण एवं प्रत्यभिज्ञानरूप विकार बुद्धि आदि के अतिशय हैं। इनके होने में वहां क्या बाधा आ सकती है। अतः नित्य आत्मा में कर्तृत्व सिद्ध होजाता है।

उत्तर—बुद्धि आदि में अतिशय मानकर नित्य आत्मा में कर्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता। कारण कि ये बुद्धि, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और संस्कार जो है, वे क्या आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं या अभिन्न हैं? यदि इन्हें आत्मा से सर्वथा भिन्न माना जावेगा, तो इनके अतिशय से आत्मा में कर्तृत्व कैसे सिद्ध हो सकता है। जिस प्रकार इनकी अर्थान्तरता में आकाश में कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता है। यह मुझे सुख का साधन है और यह मुझे दुःख का साधन है, इस प्रकार आत्मा विचार कर किसी पदार्थ को ग्रहण करने की और किसी को छोड़ने की इच्छा करता है, अथवा पूर्वमें अनुभूत संस्कार से ग्रहण एवं छोड़ने का प्रयत्न करता हुआ कार्य का उपादाता अथवा हाता होता है। इसलिये वह इन क्रियाओं का कर्ता कहा जाता है। परन्तु विचारने की बात है कि जब सुख और दुःख आत्मा से सर्वथा भिन्न ही होते हैं, तब उस समय आकाश की तरह ये सुख दुःख आत्मा के ही हैं, यह नियम नहीं सिद्ध हो सकता है। जिस प्रकार आत्मा से भिन्न

होकर वे उसके कल्पित किये जाते हैं, उसी प्रकार आकाश से भी वे दोनों भिन्न हैं, तब आकाश के वे क्यों नहीं कहे जावेंगे। यदि इसका समाधान "इन दोनों का समवाय सम्बन्ध आत्मा में ही है, आकाश में नहीं" यह दिया जाय सो भी उचित नहीं है। कारण कि पुरुष-आत्मा में इन दोनों के समवाय सम्बन्ध का नियामक क्या है। "मुझ आत्मा में सुख दुःख हैं" इस प्रकार की बुद्धि को यदि नियामक माना जाय तो फिर भी यही जिज्ञासा उठती है, कि इस प्रकार की बुद्धि आत्मा में ही है, अन्य आकाश आदि में नहीं, इस का भी क्या कारण है। उत्तर में यदि वहां उसका समवाय कहा जाय तो वही पूर्वोक्तरूप से आवर्तन होता है, अतः इस प्रकार के कथन में चक्रक नाम का दोष आता है। चक्रक दोष के परिहार के लिये यदि यों इसे माना जावे, कि जिसके जिम बुद्धिपूर्वक इच्छा और द्वेष होते हैं, वहां उस बुद्धि का समवाय है-मतलब इसका यह है कि आत्मा में ही इच्छा और द्वेष बुद्धि पूर्वक होते हैं, अतः उसमें ही उस बुद्धि का समवाय सम्बन्ध माना जायगा-आकाश में नहीं, कारण कि वहां इच्छा और द्वेष बुद्धि पूर्वक नहीं होते तो इस पर फिर भी यही प्रश्न होता है कि आत्मा में ही बुद्धिपूर्वक इच्छा और द्वेष होते हैं, आकाश में नहीं, इसका क्या समाधान है। समाधान निमित्त यदि यों कहा जाय कि सुख की प्राप्ति और दुःख परिहार के लिये प्रयत्न पुरुष के ही होता है, आकाश के नहीं। सो इस पर भी यही आशङ्का होती है, कि इस प्रकार का प्रयत्न

आत्मा ही क्यों करता है-आकाश क्यों नहीं करता इसका समाधान यदि प्रवृत्ति द्वारा किया जाय, कि इच्छा और द्वेष करने की ओर प्रवृत्ति आत्मा की होती है, आकाश की नहीं। सो आत्मा की यह प्रवृत्ति भी यदि ग्रहण और परित्याग रूप अथवा मन, वचन और काय निमित्तक कुशल-कल्याण शुभ कर्म रूप अथवा अकुशल-अकल्याण अशुभ कर्म रूप है और बुद्धि पूर्वक प्रयत्न विशेष की अनुमापक हो रही है अपने को पुरुष-आत्मा की कैसे सिद्ध कर सकती है। "आकाश एवं अचेतन शरीरादिक में यह प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है-इस प्रकार की प्रवृत्ति वहां सर्वथा असंभव है-अतः पारिशेष्यात् यह प्रवृत्ति आत्मा द्वारा ही होती है-अतः यह उसकी ही है" सो ऐसा कहना ठीक नहीं है कारण कि कालान्तरस्थ नित्य आत्मवादियों ने आत्मा को भी स्वयं अचेतन माना है।

शङ्का—यद्यपि आत्मा स्वरूप से अचेतन माना गया है-परन्तु चेतना के समवाय से वह चेतन भी माना गया है। अतः प्रवृत्ति का सम्बन्ध चेतन आत्मा के साथ ही माना जायगा-अचेतन आकाश या शरीरादिक के साथ नहीं।

उत्तर—चेतना के समवाय से आत्मा को चेतन मान कर उसके साथ प्रवृत्ति का जो आप सम्बन्ध सिद्ध करना चाहते हैं, तो ठीक नहीं है, कारण कि जब आत्मा स्वयं चेतन नहीं है-अचेतन है, इसी प्रकार आकाश का शरीरादिक भी स्वरूप से अचेतन है, तो जिस प्रकार चेतना का सम्बन्ध अचेतन आत्मा

के साथ होता है; उसी प्रकार अचेतन आकाशादिक के साथ भी इस चेतना का सम्बन्ध क्यों नहीं होता? होना चाहिये। आत्मा स्वतः चेतन मानने पर, उसमें चेतना का समवाय मानना ही व्यर्थ है। अतः अचेतन आकाशादिक की तरह स्वयं अचेतन आत्मा में भी प्रवृत्ति का सम्बन्ध घटित नहीं होता है। प्रवृत्ति की असिद्धि में प्रयत्न की सिद्धि, इच्छा द्वेष की सिद्धि, अथवा सुख दुःख, बुद्धि की भी सिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार कालान्तरस्थ पदार्थ के मानने पर तथास्थित बुद्ध्यादि की तरह कर्त्ता और कार्य की सिद्धि नहीं होती है।

अथवा—सांख्य सिद्धान्त के अनुसार महदादि कार्य कालान्तर स्थायी माने गये हैं और प्रधान जो इनका कर्त्ता है, वह भी कालान्तर स्थायी माना गया है। सूत्रकार यहाँ उनसे यह कह रहे हैं, कि तुम जो कालान्तर स्थायी मानकर भी इनमें कर्तृत्व और कार्यत्व की व्यवस्था मानते हो, वह पृथक्त्व और अपृथक्त्व द्वारा अवचनीयता आने पर घटित नहीं होती है। "पृथक्त्वापृथक्त्वावचनीयतायाम्" इस साधन रूप पद द्वारा विकार हानि रूप साध्य की सिद्धि की है। जहाँ विकार रूप हानि है, वहाँ कर्तृत्व एवं कार्यत्व का भी अभाव है। इसका संक्षिप्त खुलासा इस प्रकार है—

कालान्तर स्थायी महदादिक कार्य नित्य प्रधान प्रकृति से पृथग्भूत हैं अथवा अपृथग्भूत हैं। अपृथग्भूत मानने पर वहां

कर्त्ता और कार्य सिद्ध नहीं होते हैं। क्योंकि जैसे प्रकृति अविकारी है, उसी तरह से प्रकृति से अपृथग्भूत महदादि कार्य भी अविकारी माने जावेंगे। इसलिये प्रधान की तरह वे विकारी न होने से कार्य नहीं हो सकते हैं। जब कार्य ही सिद्ध नहीं हुआ तो कार्य की अपेक्षा से जो प्रकृति में कर्तृत्व माना जाता है, वह भी सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि कोई कार्य होता, तो प्रवृत्ति उसका कर्त्ता माना जाता और इस अपेक्षा से उसमें कर्तृत्व आता-परन्तु वह तो बनता ही नहीं है। इसलिये "व्यक्त महदादि कार्य हैं और अव्यक्त प्रधान कर्त्ता है" यह कथन विकार रूप कार्यों के अभाव में घटित नहीं हो सकता है।

महदादि कार्यों को प्रकृतिरूप कारण से यदि सर्वथा भिन्न माना जाय तो इस पक्ष में भी कर्त्ता और कार्य की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि जिस प्रकार पुरुष-आत्मा से महदादिक कार्य सर्वथा पृथग्भूत हैं, अतः वे उसके कार्य नहीं माने जाते, उसी प्रकार प्रकृति के भी ये कार्य सिद्ध नहीं हो सकते हैं। अथवा इनके कर्त्ता का अभाव होने से उनमें पुरुष की तरह कार्यत्व ही नहीं बनता है, "महदादि न कार्यं कर्तुरभावात् पुरुषवत्।" यहां "कर्तुरभावात्" यह हेतु असिद्ध नहीं है-क्योंकि प्रधान अविकारी होने से पुरुष की तरह उनका कर्त्ता नहीं होता है। कर्त्ता-कार्य की सिद्धि के लिये यदि यों कहा जाय कि महदादि कार्य और प्रकृतिरूप कर्त्ता में पृथक्त्व और अपृथक्त्व से अवाच्यता है,

न तो हम यही कह सकते हैं, कि महदादिक प्रकृति से सर्वथा भिन्न हैं, और न यह भी कह सकते हैं, कि ये प्रकृति से सर्वथा अभिन्न हैं। फिर कैसे हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में यही समाधान है, कि ये व्यक्त और अव्यक्त इन दोनों विकल्पों से परे हैं-अवाच्य हैं। सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि इस मान्यता में भी विकार की हानि होने से, पुरुष के भोक्तृत्वादि धर्म की तरह उनमें कर्ता और कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। इन दोनों विकल्पों से जैसे अवचनीय होने पर आत्मा में भोक्तृत्व धर्म के प्रति कर्तृत्व और भोक्तृत्व में कार्यत्व नहीं बनता है, इसी प्रकार इन दोनों विकल्पों से अवचनीयता मानने पर प्रधान में कर्तृत्व और महदादिकों में कार्यत्व नहीं सध सकता है। इसलिये हे वीर जिन ! आप से द्वेष रखने वाले सांख्यों का भी यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि लक्षण रूप योग के अंगों के अनुष्ठान में प्रयास करना, वैशेषिक एवं नैयायिकों की तरह निष्फल ही है। यहां तक सूत्रकार ने ८ वीं कारिका का "समंतदोषं मतमन्यदीयं" यह पद समर्थित करते हुए ९वीं कारिका "त्वदीयं मतमद्वितीयं" यह पद प्रकाशित किया है—इसलिये इस कथन से यह बात भली भांति सिद्ध हो चुकी कि हे नाथ ! "त्वमेव महानितीयत् प्रतिवक्तु मीशाः" आप ही महान्—पूज्य हैं बस हम तो इतना ही कह सकते है। और कुछ नहीं ॥३४॥

मद्यांगवद् भूत-समागमे ज्ञः
शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैव-सृष्टिः
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टै-
र्निर्हीभयै र्हा ! मृदवः प्रलब्धाः ॥३५॥

अन्वय-"मद्यांगवत् भूतसमागमे ज्ञः, शक्त्यन्तरव्यक्तिः अदैवसृष्टिः" इति आत्मशिश्नोदर पुष्टितुष्टैःनिर्ह्रीभयैः हा ! मृदवः प्रलब्धाः ॥३५॥

अर्थ-"मद्य के अंगभूत पिष्टोदक, गुड, धातकी आदि के समागम में मदशक्ति की उत्पत्ति अथवा आविर्भूति की तरह भूतों के समागम होने पर ज्ञ-सुख, दुःख, हर्ष, विषाद, आदि पर्याय स्वरूप परिणाम विशेष चैतन्य, उत्पन्न अथवा अभिव्यक्त होता है। यह शक्त्यन्तर व्यक्ति-उन भूतों की शक्ति विशेष की व्यक्ति है कोई दैवसृष्टि नहीं है।" इस प्रकार अपने लिङ्ग और उदर की पुष्टि से ही संतुष्ट बने हुए, लज्जा रहित एवं निर्भय चार्वाकों द्वारा हा ! ये जगत के भोले भाले प्राणी ठगे गये हैं।

भावार्थ-स्तुतिकार ने इस कारिका द्वारा चार्वाकों की इस मान्यता पर "हा" ! इस शब्द द्वारा अत्यन्त खेद प्रकट किया है। इन चार्वाकों का कहना है, कि जिस प्रकार पिष्टोदक, गुड, धातकी आदि के मिलने पर-सड़ाये जाने पर, मदशक्ति की उत्पत्ति अथवा आविर्भूति होती है, उसी प्रकार पृथ्वी, जल,

तेज और वायु इन चार तत्वों के सम्मेलन में-समुदाय में, उन्हीं का सुख, दुःख, हर्ष और विषाद आदि विवर्त्तात्मक एक स्वाभाविक परिणाम विशेष उत्पन्न या आविर्भूत होता है, इसी का नाम "ज्ञ" है। यह गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त रहता है। भूत चतुष्टय के समुदाय होने पर सर्व प्रथम शरीर, इन्द्रिय और विषय संज्ञा की उत्पत्ति या आविर्भूति होती है और इनसे चैतन्य की। इस प्रकार कार्यवादी अविद्धकर्मादिकों का तथा अभिव्यक्तिवादि पुरंदरादिक चार्वाकों का कथन है। उनके यहाँ "पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तत्समुदये शरीरेन्द्रिय-विषय संज्ञास्तेभ्यश्चैतन्यम्" ऐसा सूत्र है। इसके अंत में कार्यवादी चार्वाक "उत्पद्यते" इस क्रिया का और अभिव्यक्तिवादी चार्वाक "अभिव्यज्यते" इस क्रिया का अध्यारोप करते हैं। इस प्रकार चारों भूत परम्परा से और शरीर इन्द्रिय, एवं विषय संज्ञा ये तीनों साक्षात् रूप से चैतन्य की उत्पत्ति अथवा आविर्भूति के कारण हैं। जिस तरह मद्यांगों का शक्त्यन्तर-शक्तिविशेष मद है, उसी तरह भूतों का शक्त्यन्तर यह चैतन्य है। इसकी प्रतीति "अहं चक्षुषा रूपं जानामि" मैं चक्षु से रूप को जानता हूँ इस तरह होती है। इनमें से किसी भी एक के अभाव में चैतन्य की प्रतीति नहीं होती है। क्योंकि जानना रूप क्रिया कर्ता, करण और कर्म के साथ अविनाभावित है। शरीर संज्ञक चैतन्य ही कर्त्ता माना गया है। चैतन्य विशिष्ट शरीर के सिवाय आत्मा नाम का कोई और तत्त्व कर्ता है ही नहीं। प्रमाण भी कोई

ऐसा नहीं है, जो इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र आत्म तत्त्व का साधक हो। चक्षुरादि इन्द्रिय संज्ञक चैतन्य करण माना गया है। चैतन्य विशिष्ट इन्द्रिय के बिना और किसी दूसरी जगह करणता नहीं आती है। विषय संज्ञक पदार्थ कर्म है. और इसकी स्थिति ज्ञेयरूप से है। यदि कोई आत्मतत्त्ववादी यह शंका करे, कि मृतशरीर इन्द्रिय एवं विषयों से चैतन्य का अभ्युदय क्यों देखा जाता, जब शरीर इन्द्रिय और विषय संज्ञा ही चैतन्य हैं, अथवा इनसे चैतन्य की उत्पत्ति होती है, तो फिर क्या कारण है जो मुर्दे के शरीर और इन्द्रियादिकों के रहते हुए भी उनसे चैतन्य का उदय होता हुआ नहीं देखा जाता। अवश्य देखा जाना चाहिये। परन्तु नहीं देखा जाता है। अतः "तेभ्यश्चैतन्यं" इस सूत्र के अन्तिम पाद द्वारा चैतन्य की उद्भूति सिद्ध करना ठीक प्रतीत नहीं होता सो ऐसा कहना उचित नहीं, कारण कि चैतन्य विशिष्ट ही जीव के शरीर, इन्द्रिय और विषय संज्ञा इन्हें चैतन्य का उत्पादक कारण माना गया है। चेतना रहित जीव के शरीरादिकों को नहीं। अथवा भूत जब जीव के शरीर, इन्द्रिय और विषय रूप से परिणमते हैं, तब ही वे शरीर, इन्द्रिय और विषय इस प्रकार की संज्ञा के कारण बनते हैं और तभी उनसे चैतन्य की उत्पत्ति होती है। मुर्दे के शरीर में यद्यपि भूत समुदय है—परन्तु वह शरीर विषयादि संज्ञा रूप से वर्तमान में परिणामित नहीं हो रहा है। अतः उससे चैतन्य का भी उत्पाद नहीं होता है। जिस प्रकार मद्य के अंगभूत पिष्टो-

दक, गुड़ एवं धातकी आदि के मिलने पर, उनसे मद की कारणभूत शक्ति विशेष की प्रादुर्भूति होती। मद्य के अनङ्गभूतों से नहीं। इसी प्रकार प्रतिनियत पृथिवी आदि के समागम पर ज्ञान की हेतुभूत शक्ति की उद्भूति होती है। अप्रतिनियत भूतों के समागम पर नहीं। जिनके समागम होने पर इन्द्रियादि संज्ञाएं हों, वे प्रतिनियत और जिनके समुदय होने पर भी इन्द्रियादिक संज्ञाएं न हों, वे अप्रतिनियत भूत हैं। इस प्रकार प्रतिनियत भूतों के समुदित होने पर ही, यह शक्त्यन्तर रूप चैतन्य को व्यक्ति मानी गई है। इस मान्यता में यह चैतन्य उद्भूति दैव निमित्तक नहीं मानी जा सकती है; यह दैवकृत सृष्टि नहीं हो सकती है। क्योंकि दैवकृत इसे मानने पर, दैव को भी पर दैव कृत मानना पड़ेगा। इस प्रकार अनवस्था दोष का सद्भाव होगा। इससे बचने के लिये दैवसृष्टि यदि स्वाभाविक मानी जाय, तो इसी प्रकार ज्ञान के कारणभूत असाधारण भूतों के समागम होने पर, इस शक्त्यन्तर की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति भी स्वाभाविक माननी चाहिये। सूत्र में शक्ति के साथ का अन्तर शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मद्यांगों के काल विशेष विशिष्ट, पात्रादि विशेष विशिष्ट, अविकल एवं अनुपहत समुदय में मदजनक शक्ति विशेष की व्यक्ति दैवसृष्टि थोड़े ही मानी गई है। क्योंकि यह तो अपने साधारण और असाधारण कारणों के समागम होने पर स्वाभाविक रूप से होती है।

अथवा—हरीतकी आदि के समुदाय में जिस प्रकार विरेचन करवाने की शक्ति स्वाभाविक है। ऐसा नहीं है कि किसी देवता की कृपा प्राप्त कर हरीतकी आदि विरेचन कराते हैं। माना कि हरीतकी आदि पदार्थ कभी २ कहीं २ विरेचन नहीं भी कराते हैं, तो इसका कारण हरीतकी आदि के योग को पुराना हो जाने से उसकी शक्ति की क्षीणता है, या उसे उपयोग में लाने वाले व्यक्ति के शक्तिविशेष की अप्रतीति है। यही हालत चारों भूतों का समुदय होने पर भी कहीं २ चैतन्य की उद्भूति या उत्पत्ति नहीं होने में ज्ञात कर लेनी चाहिये। इस प्रकार की यह पूर्वोक्त मान्यता चार्वाक सिद्धान्त मानने वालों की है। इस मान्यता में उन्होंने यही पुष्ट किया है, कि मद्यांगों से मद-शक्ति की उत्पत्ति की तरह भूत समुदय से चैतन्य की परम्परा से उत्पत्ति होती है। अनादि अनंत स्वतन्त्र चैतन्य पदार्थ कोई नहीं, जब तक शरीर का सम्बन्ध है तब तक चैतन्य है। शरीर के है। विशकलित होते ही चैतन्य का भी नाश हो जाता है। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त ही यह जीवों के साथ रहा करता है। ऐसी हालत में जब कि परलोक जाने वाला कोई स्वतंत्र जीवात्मा नाम का पदार्थ है ही नहीं तब स्वर्ग नरकादि रूप परलोक की मान्यता करना बिलकुल अनुचित ही है। "परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः"। पुण्य पाप रूप दैव का अभाव होने से उनके साधक शुभ और अशुभ अनुष्ठान की भी कोई सत्ता सिद्ध नहीं है। अतः ऋणं कृत्वा घृतं पीना चाहिये—खूब मजा मौज

से रहना चाहिये। शराब और कबाब का सेवन करते हुए सदा अपने शिश्न को जैसे भी बने उस रूप से संतुष्ट करते रहना चाहिये। खाने पीने का कोई नियम नहीं। जो मिले सो खालेना और आनंद लूटना यही जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिये।

तपांसि यातनाश्चित्रा स्संयमो भोग-वंचकः,
अग्नि-होत्रादिकं कर्म, बालक्रीडेव लक्ष्यते ॥१॥

क्या धरा है तपस्याओं में-कष्ट के सिवाय और इनसे मिलता ही क्या है। संयम पालने से लाभ ही क्या है, यह तो भोगों को लूटने वाला एक जबर्दस्त लुटेरा है। अग्नि होत्रादिक कर्म तथा पूजनादिक शुभ कृत्य ये सब बालकों (अज्ञानीजनों) की क्रीडाएं जैसी बातें हैं। इनके करने से कुछ भी लाभ नहीं है।

इस प्रकार के ठग वचनों द्वारा जो सुकुमार मति वालों—भोले जीवों-को प्रतारित करते हैं, उनकी पुण्य पाप की श्रद्धा को जो अपने अप्रमाणीक वचनों से निकालते हैं एवं स्वर्ग और नरकादि परलोकों की मान्यता पर जो पानी फेरते हैं ऐसे चार्वाकों को आचार्य महोदयने "निर्ह्रीभयैः" इस पद द्वारा जो निर्लज्ज एवं निर्भय प्रकट किया है सो ठीक ही है। क्योंकि जिन्हें लज्जा ही नहीं है एवं जो अपनी स्वच्छंद प्रवृत्ति के करने में सर्वथा निर्भय बने हुए हैं—उन्हें अपने पतन का तो कुछ भी ख्याल होता नहीं है—साथ में "हा" अफसोस है कि वे अपने वचन जाल में दूसरे भद्र प्रकृति के मानवों को फंसाकर उनके

भी अहित कर्ता बनते हैं। "मृदवः प्रलब्धाः" इन पदों द्वारा सूत्रकार ने अपना यह हार्दिक अभिप्राय प्रकट किया है कि ऐसे अतत्त्वज्ञों के वचनों में वे ही व्यक्ति फंस जाते हैं जो सुकुमार मति हैं। परन्तु, जो परिपक्वमति हैं वे तो इनकी इस प्रकार की बातों में फंसते ही नहीं हैं क्योंकि वे जानते हैं कि आत्मा भूतों का विकार नहीं है। किन्तु यह तो परमार्थ से अनादि-निधन उपयोग लक्षणात्मक एक प्रमाण प्रसिद्ध स्वतंत्र पदार्थ है। भला! यह चेतनात्मक व्यक्ति अचेतनभूतों के समुदय से कैसे उद्भूत हो सकता है। ऐसा तो कोई सा प्रमाण ही नहीं है जो आत्मा को भूत समुदय से व्यक्त होता हुआ साधित कर सके, अथवा उनसे उसे उत्पन्न हुआ व्यवस्थापित कर सके। हम यह कहते हैं कि अविकल, अनुपहत शक्तियुक्त एवं परस्पर संगत ये चारों भूत कायाकार परिणत होकर जिस चैतन्य शक्ति को उत्पन्न या अभिव्यक्त करते हैं वह चैतन्य शक्ति अपनी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति के पहिले सत् रूप है या असत् रूप है, अथवा सत् असत् उभयरूप है? इन विकल्पों के सिवाय और चौथा कोई विकल्प वहां उठ नहीं सकता है। अभिव्यक्त या उत्पन्न होने वाली वह शक्ति यदि पहले से ही सत् स्वरूप मानी जाय—तो इस कल्पना—मान्यता में उसमें अनादि अनंतत्व सिद्ध होता है। क्योंकि सत् की ही अभिव्यक्ति होती है। तथा च—पृथिव्यादि सामान्य की तरह "सत्त्वविशिष्टत्वे सति अकारणवत्त्व" होने से कथंचित् उसमें नित्यत्व सिद्ध होता है। "सत्व

विशिष्टत्वेसति अकारणवत्वात्" यह हेतु पृथिव्यादि विशेष व्यक्तियों द्वारा व्यभिचरित नहीं हो सकता है कारण कि उनमें यद्यपि सत्त्वविशिष्टता है परन्तु "अकारणवत्वात्" यह अवशिष्ट हेतु दल नहीं है। पृथिवी आदि विशेष पदार्थ रूप व्यक्तियों में किसी अपेक्षा से सकारणता आने से "अकारणवत्व" इस हेतुदल का वहां सद्भाव नहीं माना गया है। इसी प्रकार प्राग-भाव जिसमें अकारणवत्ता मानी गई होने पर भी सत्त्वविशिष्टता अंगीकृत नहीं हुई है। इसलिये "सत्त्वविशिष्टत्वे सति अकारण-वत्वात्" यह समुदित हेतु व्यभिचरित नहीं है। हेतु व्यभि-चरित तब ही होता है कि जब वह पक्ष सपक्ष में रहता हुआ विपक्ष में भी रहता है। "सत्त्वविशिष्टत्वे सति अकारणवत्वात्" यह हेतु है। इसका पक्ष चैतन्यशक्ति और सपक्ष पृथिव्यादि सामान्य है। विपक्ष अनित्य में इस हेतु का सद्भाव नहीं पाया जाता है। अतः यह व्यभिचरित नहीं है। इसीलिये विपक्ष में वृत्ति का अभाव होने से-विरुद्ध भी नहीं है। अभिव्यक्ति सत् पदार्थ की ही होती है-असत् की नहीं। अतः जब यह चैतन्य-शक्ति अभिव्यक्त होती है, तो यह मानना चाहिये कि वह कथं-चित् नित्य है-और इसी कारण वह सत्त्वविशिष्ट होकर अकारण-वती भी है। इसलिये "सत्त्वविशिष्टत्वे सति अकारणवत्वात्" इस हेतु की वहां सत्ता होने से यह असिद्ध भी नहीं है। यदि यों कहकर इस हेतु को व्यभिचारी सिद्ध किया जाय कि "पिष्टो-दक, गुड़ एवं धातकी आदि मद्यांगों द्वारा मद शक्ति अभिव्यक्त

होती है इस अपेक्षा वह पहिले से सत् रूप है तो भी वह नित्य नहीं मानी गई है। इसलिये "सत्वविशिष्टत्वे सति अकारणवत्वात्" इस हेतु द्वारा नित्यता कैसे साधित हो सकती है। "अभिव्यञ्जकस्याकारणत्वात्" मदशक्ति के अभिव्यञ्जक पिष्टोदकादिक उसके कारण नहीं हैं। अभिव्यङ्ग्य के अभिव्यंजक कारण नहीं माने जाते हैं। अन्यथा उसमें अभिव्यंजकता न आकर कारकता माननी पड़ेगी। अतः यह मानना पड़ता है कि प्राक् सत् स्वरूप एवं कारण से रहित—अकारण रूप—ऐसी अभिव्यक्त होने वाली मदशक्ति द्वारा इस हेतु में व्यभिचार दोष जब स्पष्ट प्रतीत कोटि में आ रहा है—तब इससे कथंचित् नित्यत्व साध्य की सिद्धि आप कैसे कर सकते हैं"—सो ऐसा कहना उचित नहीं है। कारण कि चेतन द्रव्य के ही मदशक्ति का स्वभावपना होने से वह मदशक्ति भी कथञ्चित् नित्य सिद्ध होती है। अचेतन द्रव्यों में सर्वथा मदशक्ति का होना असंभव है मद के सम्बन्ध से अचेतनता—नशा जिसमें मदोन्मत्त होने की शक्ति है उसी में होती है—अचेतन द्रव्येन्द्रियों एवं द्रव्यमन में इस प्रकार की शक्ति की सर्वथा विकलता होने से मादकता—नशा नहीं आती है। भावेन्द्रियां चेतनस्वरूप हैं—इसलिये उनमें ही मदशक्ति के सम्बन्ध से मादकता होती हुई प्रतीत होती है। यदि द्रव्येन्द्रियों में मादक शक्ति का सद्भाव माना जाय तो जिस बोतल में वह मद्य भरा हुआ रहता है उसमें भी अचेतना—मदोन्मत्तता होनी चाहिये—जिस प्रकार की शराबियों की शराब

पीने के पश्चात् नशा के आवेश से चेष्टाएं देखी जाती हैं—वैसी ही चेष्टाएं उस बोतल की भी होनी चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है। "चेतन द्रव्य के ही मदशक्ति का स्वभावपना है" इस कथन को यदि यह कह कर कि "मुक्तात्माओं में भी मद-शक्ति की अभिव्यक्ति का प्रसंग मानना पड़ेगा" दूषित करने की चेष्टा की जाय सो भी ठीक नहीं है। कारण कि वहां पर उस शक्ति को अभिव्यक्त कराने वाले कारणों की ही असंभवता है—तब वह प्रकट कैसे हो सकती है। मदशक्ति की अभिव्यक्ति का बाह्यकारण मद्यादि का सेवन और अन्तरंग कारण मोहनीय कर्म का उदय है। ये दोनों ही अन्तरङ्ग और बहिरङ्गकारण मुक्तात्माओं में नहीं हैं। अतः इनके अभाव में वहां उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। इसलिये मदशक्ति द्वारा उक्त सदकारणत्व हेतु व्यभिचरित दोष से दूषित नहीं हो सकता है। अतः इससे चैतन्य शक्ति में कथंचित् नित्यता सुघटित हो जाती है। यदि फिर भी यों कहा जाय कि हेतु में मदशक्ति द्वारा व्यभिचार दोष सिद्ध नहीं होता है तो कोई बात नहीं, मदजनन शक्ति द्वारा तो हेतु सदोष—व्यभिचरित साबित हो जाता है। यह मदजनन शक्ति मद्यांगों के समागम से अभिव्यक्त होती है—अतः उसमें सत्त्व विशिष्टत्वे सति अकारणवत्ता होने पर भी नित्यता नहीं मानी गई है सो ऐसा कहना भी उचित नहीं प्रतीत होता—कारण कि उसमें इस हेतु का सद्भाव ही सिद्ध नहीं होता। कौन कहता है कि मदजनन शक्ति मद्यांगों से

अभिव्यक्त होती है। वह तो सुरांगों के समागम का कार्य है। ऐसा तो कोई प्रमाण है ही नहीं जो पिष्टोदकादिकों में प्रत्येक में मदजनन शक्ति के सद्भाव का आवेदक हो। इसी प्रकार जो मद शक्ति को केवल मोह के उदय निमित्तक मानकर उक्त हेतु में व्यभिचार दोष का उद्भावन करते हैं वह भी इसी पूर्वोक्त कथन से निरस्त हो जाता है। क्योंकि मोहोदय से होने वाली आत्मा में मदशक्ति मोह के उदय का कार्य है। अतः उसे अभिव्यंग्य नहीं माना गया है। इसीलिये क्षीण मोह में इस मदशक्ति का अपने कारण के अभाव से विनाश हो जाता है। इस प्रकार चैतन्य शक्ति में नित्यता प्रसिद्ध होने पर परलोकी और परलोक आदि सब कुछ पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं। दूसरे जब भूतवादी परलोकी की सत्ता ही कबूल नहीं करता है तो उसे "सती चैतन्यशक्तिरभिव्यज्यते" यह कहना ही नहीं चाहिये। यदि इस आक्षेप के परिहार निमित्त यह कहा जाय कि अविद्यमान चैतन्यशक्ति अभिव्यक्त होती है सो ऐसा कथन प्रतीति से विरुद्ध पड़ता है—कारण कि सर्वथा असत् होकर किसी भी पदार्थ की अभिव्यक्ति नहीं देखी जाती है। कथंचित् सत् असत् उभयरूप चैतन्यशक्ति की अभिव्यक्ति होती है इस प्रकार का तृतीय विकल्प यदि मान्य रक्खा जावे तो इसमें केवल परमत-जैनमत—की ही मान्यता सिद्ध होती है। क्योंकि उनके यहां द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से इस चैतन्यशक्ति को कथंचित् सती—नित्य—माना गया है—और पर्यायार्थिकनय की

अपेक्षा से कथंचित् असती—अनित्य भी माना गया है। ऐसी इस कथंचित् सत् असत् स्वरूप वाली चैतन्यशक्ति की अभिव्यक्ति कायाकार परिणत पुद्गलों द्वारा स्याद्वाद सिद्धान्त मानने वालों ने मान्य की है। अतः सर्वथा चैतन्य की अभिव्यक्ति प्रमाण बाधित होने से इसकी अभिव्यक्ति मानने वाले इन भूतवादियों द्वारा सुकुमार मति पुरुष नियम से ठगाये गये हैं।

यहां तक भूतों से चैतन्य की अभिव्यक्ति मानने वालों की मान्यता पर विचार किया गया है।

इस प्रकार तार्किक शिरोमणि श्री समन्तभद्राचार्य
विरचित युक्त्यनुशासन नामक महाशास्त्र
के पैंतीस श्लोकों का, मालथौन
निवासी पंडित मूलचन्द्रजी
कृत विस्तृत हिन्दी
विवेचन समाप्त
हुआ

जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्त

जो जैनधर्म करोड़ों वर्षों से चला आ रहा है और विश्व के भीषण परिवर्तनों, घोर सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्तियों के बाद अभी तक विद्यमान है, उसके सिद्धान्त अवश्य ही विशेषता रखेंगे। संक्षेप में जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्त निम्न हैं:—

१—जगत अनादि और अकृत्रिम है।

२—जीव अमर (शाश्वत्) है।

३—जीव अनन्त हैं।

४—जीव परमात्मा बन सकता है।

५—कर्म का संयोग होने से जीव संसारी है।

६—जीव का पुनर्जन्म होता है।

७—अपने किये कर्म का फल स्वयं जीव को ही भोगना पड़ता है।

८—कर्म रहित होने से जीव उन्नत दशा में पहुँचकर परमात्मा बनता है।